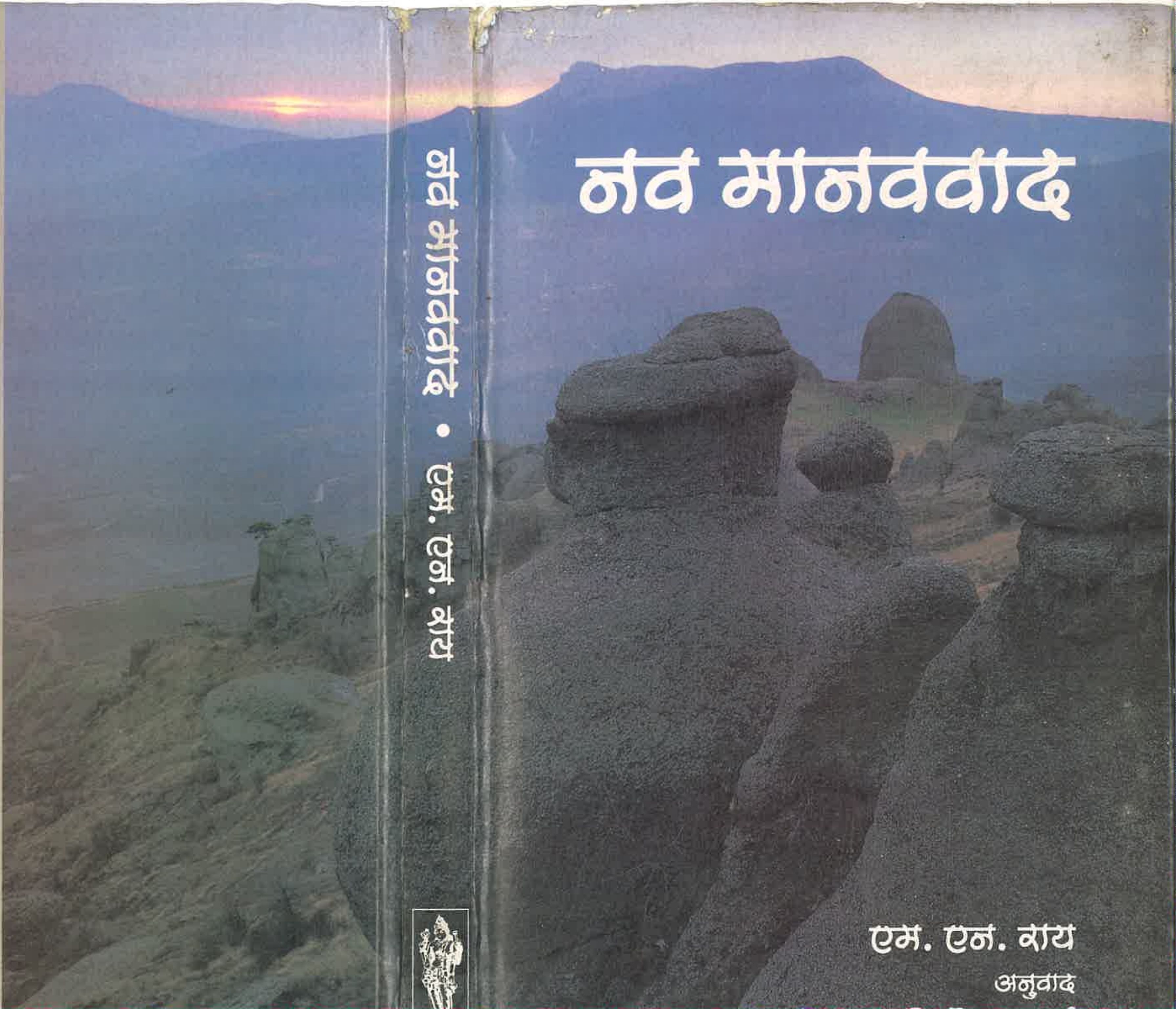

नव मानववाद

नव मानववाद • एम. एन. राय

एम. एन. राय

अनुवाद

यह विडम्बना ही है कि हमारे समय के मौलिक विचारकों के हरावल में होने के बावजूद मानवेन्द्रनाथ रायं के चिन्तन की ओर राजनीतिक और अकादमिक दुनियाओं ने अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। उग्र राष्ट्रवाद से शुरू हो कर साम्यवाद से गुज़रती हुई उन की चिन्तन-यात्रा का नव मानववाद या वैज्ञानिक मानववाद तक पहुँचना उन का निजी वैचारिक उत्कर्ष ही नहीं वरन् औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की आकाँक्षा करने वाली स्वातन्त्र्य-चेतना का अपने समय में प्रचलित विकल्पों की अपर्याप्तता का अनुभव करते हुए एक नये विकल्प का प्रस्तावक होना है। मार्क्सवादी वैज्ञानिकता को भ्रामक सिद्ध करते हुए राय नव मानववाद की तात्त्विक पृष्ठभूमि के रूप में जिस वैज्ञानिकता की अवधारणा विकसित करते हैं, वह मनुष्य और उस के इतिहास के प्रति एक नयी दृष्टि की कारक है।

मानवेन्द्रनाथ राय के अनुसार सभी प्रचलित विचारधाराएँ और व्यवस्थाएँ मनुष्य की स्वतन्त्रता के इस चरम उद्देश्य को अपनी प्रक्रिया में भुला ही नहीं देतीं बल्कि अक्सर स्वयं उस के विरुद्ध हो जाती हैं। इसलिए एम.एन. राय एक ऐसे राजनीतिक तन्त्र और अर्थ-व्यवस्था का प्रस्ताव करते हैं जिस में सत्ता के किसी भी रूप का हस्तान्तरण और केन्द्रीकरण न हो सके और व्यक्ति अपनी सम्प्रभुता का वास्तविक भोग कर सके। वैश्विक अर्थ-व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारवाद के बोझ तले दम तोड़ती वैयक्तिक और स्थानीय सर्जनात्मकता की सुरक्षा और पल्लवन के लिए संवेदनशील लोग किसी विकल्प की तलाश में हैं। इस विकल्प के निर्माण की प्रक्रिया में राय जैसे चिन्तकों पर विचार अत्यन्त अनिवार्य है। इसी अनिवार्यता को महसूस करते हुए यह अनुवाद आप के लिए प्रस्तुत है।

मानवेन्द्रनाथ राय

(21 मार्च 1887—25 जनवरी 1954)

मूल नाम : नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य। प्रारम्भिक युवावस्था से ही राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी संगठनों में सक्रिय। प्रथम महायुद्ध के दौरान विदेश-गमन। मैक्सिको में साम्यवादी पार्टी के संस्थापक। मास्को में 'भारत के साम्यवादी दल' की संस्थापना। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के मोलिब्यूरो के सदस्य एवं उस के केन्द्रीय एशियाई विभाग के प्रभारी। बोरोडिन के साथ मिल कर चीन में साम्यवादी आन्दोलन का संगठन। 1929 से साम्यवाद से मोहभंग की शुरूआत। 1931 में भारत आगमन और छ वर्ष का कठोर कारावास। 1936 में रिहा। 'लीग ऑफ रैडिकल काँग्रेसमैन' की स्थापना। 1940 में 'रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी' की स्थापना। 1948 में पार्टी का विघटन एवं नव मानववादी आन्दोलन में रूपान्तरण।

अन्य प्रमुख कृतियाँ : 'न्यू आरिएन्टेशन', 'बियान्ड कम्युनिज़्म' (साम्यवाद के पार), 'हिस्टोरिकल रोल ऑफ इस्लाम' (इस्लाम की ऐतिहासिक भूमिका), 'साइंस एंड फिलॉसॅफ़ि', 'रीज़न, रोमेंटिसिज़्म एंड रिवोल्यूशन', 'पीपुल्स प्लान फार इकॉनोमिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया', तथा 'ड्राफ्ट कान्सटिट्यूशन ऑफ फ्री इंडिया' आदि।

नन्दकिशोर आचार्य

प्रमुख हिन्दी कवि, नाटककार एवं आलोचक। मीरा पुरस्कार, बिहारी पुरस्कार, भुवनेश्वर पुरस्कार एवं राजस्थान संगीत नाटक अकादमी सम्मान से अलंकृत। कई साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त 'सभ्यता का विकल्प', 'संस्कृति का व्याकरण', 'आधुनिक विचार', एवं 'परम्परा और परिवर्तन' जैसे चिन्तनपरक ग्रंथों के प्रणेता। जयप्रकाश आन्दोलन से जुड़ाव तथा कुछ समय तक 'एवरीमेन्स वीकली' में पत्रकारिता। चिन्तनपरक एवं सामयिक प्रश्नों पर राष्ट्रीय अख़बारों-पत्रिकाओं में निरन्तर लेखन। सम्प्रति रामपुरिया कॉलेज, बीकानेर में इतिहास विभाग के

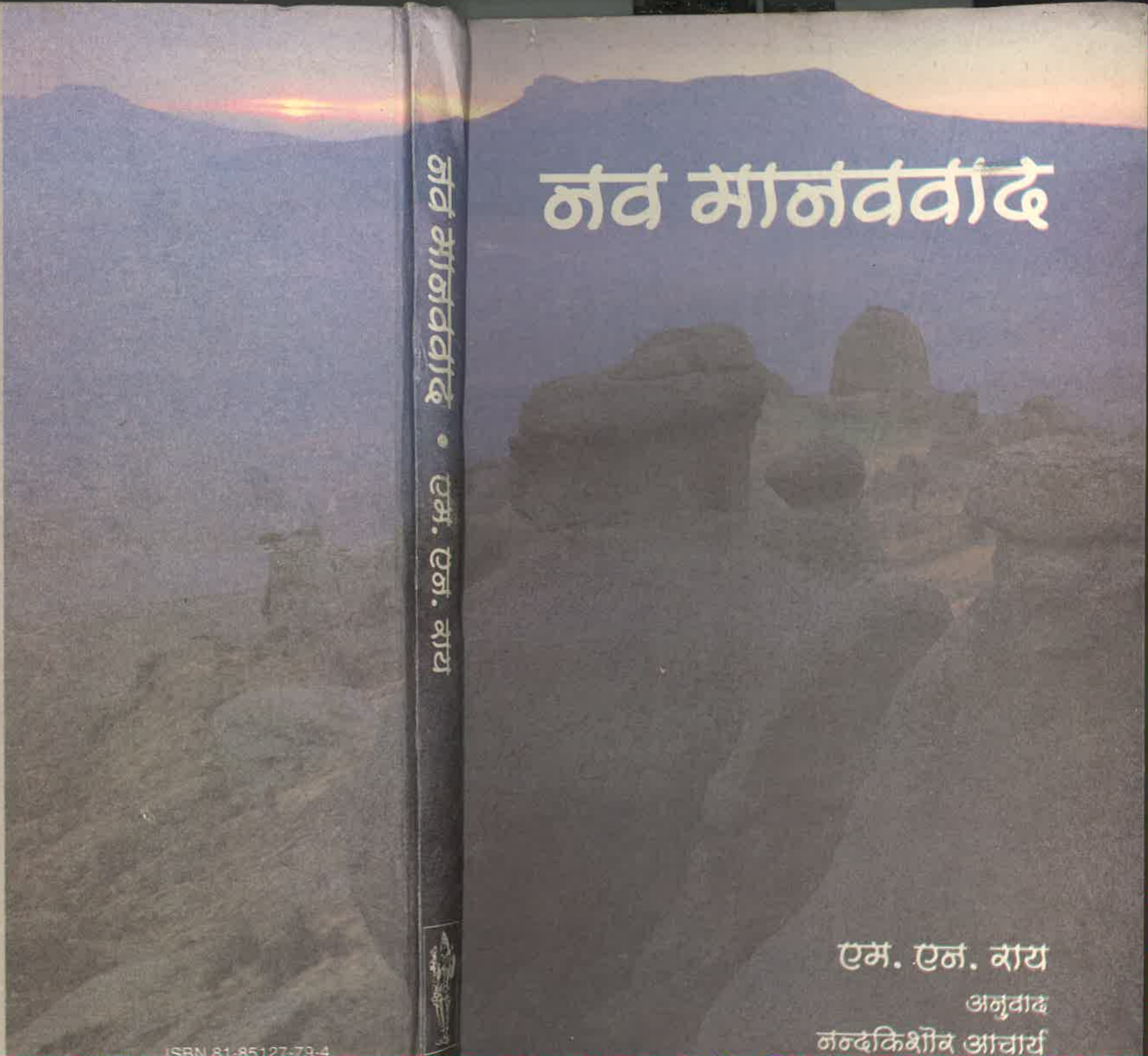

ISBN 81-85127-79-4

नव मानववाद • एम. एन. राय

नव मानववाद

एम. एन. राय

अनुवाद

नन्दकिशोर आचार्य

वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

नव मानववाद

एक घोषणापत्र

एम. एन. राय

अनुवाद

नन्दकिशोर आचार्य

वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास, चन्दनसागर
बीकानेर 334001

© मूल : दी इण्डियन रिनेसाँ इंस्टीट्यूट
अनुवाद : नन्दकिशोर आचार्य

प्रथम संस्करण : 1998

मूल्य : नब्बे रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिण्टर्स
सुगन निवास, चन्दनसागर
बीकानेर 334001

ISBN 81-85127-79-4

NAV MANAVAVADA *(Political Philosophy)* Hindi Translation of M. N. Roy's New Humanism by Nand Kishore Acharya

Rs. 90.00

अनुवादक की ओर से

यह एक विडम्बना ही है कि हमारे समय के मौलिक विचारकों के हरावल में होने के बावजूद—अज्ञेय तो उन्हें आधुनिक भारत का एकमात्र वास्तविक बौद्धिक कहते थे—मानवेन्द्रनाथ राय के चिन्तन की ओर राजनीतिक और अकादमिक दुनियाओं ने अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। उग्र राष्ट्रवाद से शुरू हो कर साम्यवाद से गुज़रती हुई उन की चिन्तन-यात्रा का नव मानववाद या वैज्ञानिक मानववाद तक पहुँचना उन का निजी वैचारिक उत्कर्ष ही नहीं वरन् औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की आकाँक्षा करने वाली स्वातन्त्र्य-चेतना का अपने समय में प्रचलित विकल्पों की अपर्याप्तता का अनुभव करते हुए एक नये विकल्प का प्रस्तावक होना है। यह आश्चर्यजनक है कि आधुनिक भारत के कम से कम तीन चिन्तकों ने साम्यवाद की सफलता के घटाटोप को भेद कर उस की वास्तविक कमज़ोरियों का विश्लेषण करते हुए अन्ततः उस के विफल होने की भविष्यवाणी की थी। मानवेन्द्रनाथ राय के अतिरिक्त अन्य दो भविष्यवक्ता थे महात्मा गाँधी और उन के ही एक मौलिक अनुयायी राममनोहर लोहिया। यह भी उतना ही विस्मयकारी है कि महात्मा गाँधी की दृष्टि के मूलतः आध्यात्मिक तथा एम.एन. राय के मूलतः बुद्धिवादी और भौतिकतावादी होने के बावजूद दोनों मनुष्य की स्वतन्त्रता, उस के नैतिक उत्कर्ष तथा मानव-मूल्यों को अपना लक्ष्य घोषित करते और अपने कार्यक्रम में कई मुद्दों पर लगभग समान प्रस्ताव रखते हैं। सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन के दिनों में व्यक्त जयप्रकाश नारायण के विचारों में हम महात्मा गाँधी और एम.एन. राय को कम से कम कार्यक्रम स्तर पर मिलते हुए अनुभव कर सकते हैं।

महात्मा गाँधी और एम.एन. राय जैसे चिन्तकों द्वारा प्रस्तावित विकल्पों की ओर ध्यान न दिये जाने के ही कारण सामान्यतः यह समझ लिया जाता रहा है कि साम्यवाद की असफलता पूँजीवाद की विजय है। लेकिन ऐसा है नहीं। साम्यवाद के एक सही विकल्प साबित न हो सकने का तात्पर्य पूँजीवादी व्यवस्था की अपरिहार्यता नहीं है। क्या साम्यवादी व्यवस्थाओं के असफल हो जाने के कारण पूँजीवाद की मानववादी आलोचना को भी व्यर्थ मान लिया जाना चाहिए ? यदि पूँजीवाद में मानवीय संवेदना का ह्रास, शोषण-दमन-उत्पीड़न और अन्ततः एक हिंस्र मनोवृत्ति में डूबती हुई मानवता को देखा गया है तो वह देखना अब भी ग़लत नहीं है। इसलिए पूँजीवाद के विकल्प की तलाश की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है तथा इस तलाश की प्रक्रिया में एम.एन. राय जैसे चिन्तकों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है।

दरअस्ल, साम्यवाद के प्रति एम.एन. राय के प्रारम्भिक आकर्षण की प्रमुख वजह मनुष्य की स्वतन्त्रता और गरिमा के प्रति उन के आकर्षण तथा उस के उत्कर्ष की उन की कामना में ही तलाशी जा सकती है। मनुष्य की स्वतन्त्रता पर राय किसी भी प्रकार का नियन्त्रण—राजनीतिक-आर्थिक अथवा आध्यात्मिक—नहीं चाहते। साम्यवाद के किसी भी रहस्यवादी आस्था का निषेध करने, वैज्ञानिक चिन्तन को बढ़ावा देने तथा मनुष्य की बेहतरी को अपना लक्ष्य घोषित करने के दावों ने ही शायद एम.एन. राय जैसे स्वातन्त्र्य-कामी चिन्तक को उस की ओर आकर्षित किया होगा। साम्यवाद का व्यावहारिक अनुभव उन की दृष्टि में स्वातन्त्र्य-विरोधी ही नहीं, आततायी तक सिद्ध हुआ। इसे एक प्रयोग या प्रयोगकर्ता की असफलता माना जा सकता था। लेकिन इस प्रायोगिक असफलता से अधिक महत्त्वपूर्ण कारण रहा साम्यवाद की कथित वैज्ञानिकता के दावे का ग़लत सिद्ध होना क्योंकि इस ग़लत समझ से प्रसूत होने के कारण साम्यवाद के बुनियादी सिद्धान्त ही राय की दृष्टि में आधारहीन साबित हो गये। इन आधारहीन बुनियादी सिद्धान्तों की बिना पर किये जाने वाले प्रयोग का अन्ततः असफल होना स्वाभाविक ही है, राय का यह निष्कर्ष संगत ही कहा जाना चाहिए।

यह स्मरणीय है कि एम.एन. राय का मोहभंग मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता से हुआ था न कि विज्ञानसम्मत बौद्धिकता और मानववाद से। इसीलिए वह कार्ल मार्क्स के इन मन्तव्यों को सदैव सादर स्मरण करते रहे कि 'मनुष्य मानवता का मूल है' तथा समाजवाद 'स्वतन्त्रता का राज्य' है। लेकिन विज्ञान की अपनी गहरी समझ और उस से उत्पन्न दार्शनिक निष्कर्षों में वह मार्क्स से बहुत अलग और आगे निकल गये। एम.एन. राय भी यह तो मानते हैं कि यह ब्रह्मांड एक 'नियमशासित' भौतिक सत्ता है। लेकिन उन का बलबिन्दु केवल 'भौतिक' पर ही नहीं बल्कि 'नियमशासित' पर भी है जिस का स्पष्ट तात्पर्य है कि इस 'नियमशासित' भौतिक प्रकृति से विकसित होने के कारण मनुष्य जहाँ अपने अस्तित्व में भौतिक है, वहीं अपने आचरण तथा वृत्ति में वैज्ञानिक बुद्धिसम्पन्न अथवा विवेकशील भी। विवेकशील होने का तात्पर्य ही स्वतन्त्र चेतना से सम्पन्न होना है क्योंकि उस के बिना विवेक का प्रयोग ही सम्भव नहीं है। मनुष्य जिस कारण एक भौतिक अस्तित्व है, उसी कारण एक स्वतन्त्र चेतनासम्पन्न और परिणामतः एक सृजनशील प्राणी भी। इन में से किसी एक पर दूसरे को वरीयता नहीं दी जा सकती। इसीलिए मनुष्य का जीवन, उस की संस्थाएं और उस का इतिहास केवल आर्थिक कारणों द्वारा निर्धारित नहीं है—यद्यपि एक उचित सीमा तक उन का महत्त्व है—बल्कि स्वतन्त्र रूप से विकसित विचार और मानवीय सृजनात्मकता उन्हें गहराई से प्रभावित करते हैं। राय के लिए स्वतन्त्रता और सृजनात्मकता इसीलिए अस्तित्वगत मूल्य हैं। ये मूल्य मनुष्य की विकास प्रक्रिया से अविच्छिन्न हैं। राय कहते भी हैं : 'स्वतन्त्रता की तलाश बुद्धि और भावना के उच्च स्तर पर अस्तित्व के लिए जैविक संघर्ष का ही नैरन्तर्य है।' बुद्धि और भावना को भी राय अपनी प्रकृति में प्राकृतिक या जैविक ही मानते हैं। स्मरणीय है कि गीता में भी मन, बुद्धि और अहंकार को 'अष्टधा प्रकृति' में गिनाया गया है। राय की दृष्टि में मनुष्य की नैतिकता का स्रोत भी उस की विवेकशीलता में है। मनुष्य नैतिक है क्योंकि वह विवेकशील है। नैतिक होने के लिए किसी रहस्यवाद में आस्था अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार राय स्वतन्त्रता, सृजनात्मकता और नैतिकता को मनुष्य के अस्तित्वगत गुण मानते हैं जिन का मूल आधार जैविक या प्राकृतिक है, अतिप्राकृतिक या रहस्यवादी नहीं। उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी नैतिक को ही आध्यात्मिक मानते थे।

मार्क्सवादी वैज्ञानिकता को भी भ्रामक सिद्ध करते हुए राय नव मानववाद की तात्त्विक पृष्ठभूमि के रूप में जिस वैज्ञानिकता की अवधारणा विकसित करते हैं, वह मनुष्य और उस के इतिहास के प्रति एक नयी दृष्टि की कारक है। मार्क्स के अनुसार द्वन्द्वात्मकता प्रकृति का क़ानून है। इसी कारण प्रकृति से विकसित मनुष्य और उस की संस्थाओं में द्वन्द्वात्मकता का होना अनिवार्य है। मनुष्य का इतिहास इसी द्वन्द्वात्मकता के विभिन्न रूपों का इतिहास है। सामाजिक जीवन में वर्ग-संघर्ष इसी द्वन्द्वात्मकता का प्रतिफलन है। राय मार्क्सवाद की इस बुनियादी संकल्पना को ही अवैज्ञानिक मानते हुए इसे ख़ारिज कर देते हैं। वह इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भी अस्वीकार करते हैं। उन का कहना है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की परिकल्पना भ्रामक है क्योंकि वस्तुतः 'भौतिकवाद एकत्ववादी दर्शन है।' मनुष्य के इतिहास को वर्ग-संघर्ष की अवधारणा के आधार पर नहीं समझा जा सकता। मनुष्य द्वारा समाज का विकास संघर्ष के आधार पर नहीं बल्कि सहकार की बुनियादी प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। राय के अपने शब्दों में, 'यह सही है कि मनुष्य का प्राथमिक सरोकार उस का अपना अस्तित्व है, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि उस की स्वार्थ-वृत्ति अपना ही अतिक्रमण करने के सामर्थ्य को भी उपजाती है। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त

इस तथ्य की अनदेखी करता है कि सहकार सदैव ही एक दृढ़तर सामाजिक कारक रहा है। अन्यथा, सभ्यता के प्रारम्भ में ही समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता।' राय के इस कथन से लगभग वैसी ही इतिहास-दृष्टि (और इसीलिए समाज-दृष्टि भी) व्यंजित होती है जैसी 'हिन्द-स्वराज्य' में महात्मा गाँधी के इस कथन से : अगर दुनिया की कथा लड़ाई से शुरू हुई होती, तो आज एक भी आदमी ज़िन्दा न रहता.... दुनिया लड़ाई के हंगामों के बावजूद टिकी हुई है। इसलिए लड़ाई के बल के बजाय दूसरा ही बल उस का आधार है। हज़ारों बल्कि लाखों लोग प्रेम के बल रह कर अपना जीवन बसर करते हैं। करोड़ों कुटुम्बों का क्लेश प्रेम की भावना में समा जाता है, डूब जाता है। सैकड़ों राष्ट्र मेलजोल से रह रहे हैं, इस को 'हिस्टरी' नोट नहीं करती, 'हिस्टरी' कर भी नहीं सकती। जब इस दया की, प्रेम की और सत्य की धारा रुकती है, टूटती है, तभी इतिहास में वह लिखा जाता है।' फ़र्क़ इतना ही है कि दया, प्रेम आदि भावात्मक शब्द हैं जबकि 'सहक़ार' कुछ अधिक व्यावहारिक या सांस्थानिक। लेकिन आपसी मेलजोल समाज का निर्धारक नियम है, यह दोनों मानते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उत्तर-सार्त्र ने भी मार्क्स की 'वर्ग-संघर्ष' की धारणा की जगह 'अभाव के विरुद्ध संघर्ष' की धारणा को स्थापित करने का प्रयास किया है। 'अभाव के विरुद्ध संघर्ष' प्रकारान्तर से 'स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष' की ही एक शाखा है क्योंकि एम.एन. राय के अनुसार, 'स्वतन्त्रता की तलाश आदिम मनुष्य के अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही जारी रहना है। इस रूप में वह सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति की बुनियादी प्रेरणा है। स्वतन्त्रता मनुष्य के बौद्धिक, नैतिक और सृजनात्मक सामर्थ्य के पल्लवन को बाधित करने वाले भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सभी कारणों का क्रमशः लोप होते जाना है।'

मानवेन्द्रनाथ राय के अनुसार सभी प्रचलित विचारधाराएँ और व्यवस्थाएँ मनुष्य की स्वतन्त्रता के इस चरम उद्देश्य को अपनी प्रक्रिया में भुला ही नहीं देतीं बल्कि अक्सर स्वयं उस के विरुद्ध हो जाती हैं। साम्यवाद की सफलता और उस के चरम प्रभाव के दिनों में भी राय ने यह अनुभव कर लिया था कि मनुष्य की स्वतन्त्रता उस का लक्ष्य नहीं रह गया है। यह उल्लेखनीय है कि राय मैक्सिको में कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रभावशाली सदस्य तथा चीन में बोरोडिन के साथ साम्यवादी आन्दोलन के संगठन के लिए काम करने वाले ऐसे नेता रहे जिन में स्वयं लेनिन से असहमति व्यक्त करने का साहस था। उन के देखते-देखते साम्यवाद एक तरह की तानाशाही में रूपान्तरित हो गया था। लेकिन, दूसरी ओर, औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र भी फ़ाशीवाद का ही रूप हो रहे थे। हिटलर जैसे अधिनायक लोकप्रिय समर्थन और संसदीय प्रक्रियाओं के माध्यम से सत्तारूढ़ हुए थे। जहाँ औपचारिक लोकतन्त्र हो, वहाँ भी संसदें सत्तासीन नेताओं या दलों की ग़ुलाम की तरह कार्य करने लगती हैं। राय का मन्तव्य है कि 'आज असली संघर्ष पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच अथवा औपचारिक लोकतन्त्र और फ़ाशीवाद के बीच नहीं है क्योंकि औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र में भी पूँजीवादी व्यवस्था का नैरन्तर्य अब घोषित सिद्धान्त के रूप में नहीं भी तो कम से कम व्यवहार में उदारवाद के स्थान पर फ़ाशीवाद की माँग करता है।' इसलिए राय का यह विश्लेषण संगत लगता है कि 'हमारे युग का संघर्ष सर्वसत्तावाद और लोकतन्त्र के बीच है, सर्वभक्षी सामूहिक अहं—राष्ट्र अथवा वर्ग—और स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत व्यक्ति के बीच।'

इसीलिए एम.एन. राय एक ऐसे राजनीतिक तन्त्र और अर्थ-व्यवस्था का प्रस्ताव करते हैं जिस में सत्ता के किसी भी रूप का हस्तान्तरण और केन्द्रीकरण न हो सके और व्यक्ति अपनी सम्प्रभुता का वास्तविक भोग कर सके। ब्यौरों में कुछ भिन्नता के बावजूद व्यवस्थागत स्तर पर महात्मा गाँधी का उद्देश्य भी मोटे तौर पर यही लगता है। इसी कारण दोनों में स्थानीय स्वायत्तता और सत्ता-रूपों के विकेन्द्रीकरण पर स्पष्ट आग्रह है। संसदीय लोकतन्त्र के बारे में गाँधी जी ने राय से भी बहुत पहले समान विचार प्रकट करते हुए संसद के लिए 'बाँझ' और 'वेश्या' जैसे शब्दों का प्रयोग किया था।

'नव मानववाद : एक घोषणापत्र' का प्रथम प्रकाशन अगस्त, 1947 में हुआ था और ठीक पन्द्रह अगस्त को एम.एन. राय ने इस की भूमिका लिखी थी। हमारी स्वतन्त्रता की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर इस के हिन्दी अनुवाद का प्रथम प्रकाशन इसलिए और भी प्रासंगिक है कि वैश्विक अर्थ-व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारवाद के बोझ तले दम तोड़ती वैयक्तिक और स्थानीय सर्जनात्मकता की सुरक्षा और पल्लवन के लिए संवेदनशील लोग किसी विकल्प की तलाश में हैं। राजनीतिक क्षेत्र में स्वयं राष्ट्रीय सम्प्रभुता तक का विचार बासी घोषित किया जा रहा है—व्यक्ति की सम्प्रभुता तो जैसे कल्पना से भी परे की चीज़ हो चुकी है। 'सत्य' की जैसे कोई अवधारणा ही नहीं बची है, उपयोगिता ही नैतिक-अनैतिक की कसौटी है। स्वतन्त्रता उपभोगवाद में रूपान्तरित की जा रही है—व्यक्ति उपभोग के लिए भी स्वतन्त्र नहीं, विवश किया जा रहा है। कुछ लोग इसे उत्तर-आधुनिक परिस्थिति कहते हैं। इस उत्तर-आधुनिक दासता से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष इतिहास की तात्कालिक चुनौती है। इस संघर्ष की प्रक्रिया में एम.एन. राय जैसे चिन्तक शायद हमारे कुछ काम आ सकें, इसी विश्वास के साथ यह अनुवाद आप के लिए प्रस्तुत है।

—**नन्दकिशोर आचार्य**

सुथारों की बड़ी गुवाड़
बीकानेर 334005

14 जुलाई 1998
(फ़्रेंच क्रान्ति दिवस)

प्रस्तावना

मुम्बई में 1946 के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में आयोजित रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अधिवेशन ने पार्टी की स्थापना के बाद के पिछले छः वर्षों में विकसित नव मानववाद के सिद्धान्तों का समावेश करते हुए एक घोषणापत्र जारी करने का निश्चय किया। इन सिद्धान्तों को सूत्र रूप में रखने वाला एक वक्तव्य भी अधिवेशन द्वारा स्वीकृत किया गया। इस प्रस्ताव की अनुपालना में पार्टी की केन्द्रीय राजनीतिक समिति की 23 मई से 25 मई, 1947 को हुई बैठक में एक मसविदा विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। पार्टी अधिवेशन द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त-सूत्रों तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर पूर्व में जारी एक वक्तव्य का ही विस्तार होने की वजह से इस मसविदे को पार्टी की केन्द्रीय राजनीतिक समिति ने सैद्धान्तिक स्वीकृति प्रदान कर दी। लेकिन इस मसविदे के लेखक के रूप में मेरा प्रस्ताव था कि पार्टी द्वारा मसविदे की औपचारिक स्वीकृति तथा उस की ओर से इस के प्रकाशन को कुछ समय के लिए टाल दिया जाय। यह प्रस्ताव इस शर्त के साथ मान लिया गया कि इस बीच मसविदे को विश्व के प्रगतिशील जनमत के विचारार्थ प्रकाशित कर दिया जाय। यह मेरे व्यक्तिगत दृष्टिकोण का वक्तव्य नहीं है। मेरे मूल मसविदे को अन्य लोगों के सुझावों के आधार पर काफ़ी संशोधित किया गया है। फिलिप स्प्रैट, सिकन्दर चौधुरी और वी.एम. तारकुंडे के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कुछ मिला कर इस प्रकाशन में व्यक्त दार्शनिक सिद्धान्त, सामाजिक और राजनीतिक विचार तथा विश्व-परिस्थिति के बारे में दृष्टिकोण पिछले कई वर्षों की अवधि में आलोचनात्मक मार्क्सवादियों तथा पूर्व साम्यवादियों द्वारा विकसित किये गये हैं। एक ओर राष्ट्रवादियों तथा दूसरी ओर अनुदार साम्यवादियों से अपने को अलगाते हुए उन्होंने 1940 में रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की थी। यद्यपि अलगाव का तात्कालिक कारण द्वितीय विश्व-युद्ध का मसला था. लेकिन दोनों ही ओर राजनीतिक सिद्धान्तों और व्यवहार की पृष्ठभूमि में सक्रिय दार्शनिक और नैतिक सवालों पर मतभेद मूलगामी थे। राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों में मूलतः कोई वास्तविक भेद नहीं था क्योंकि साम्यवाद के अनुयायियों ने—विशेष रूप से भारत में—युद्ध के तात्कालिक मसले पर पूर्णतः राष्ट्रवादी रुख ही अपना लिया था।

युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में रैडिकल शेष दुनिया से अलग कर दिये गये। बाद में, जब यह अलगाव कुछ टूटा तो हम ने पाया कि दुनिया में अन्य लोग भी एक नये सामाजिक और राजनीतिक अभिविन्यास की ओर अग्रसर हैं। समय की आत्मा का प्रतिनिधित्व करने वाली इस प्रवृत्ति का स्वागत करते हुए भी हम ने महसूस किया कि राजनीतिक व्यवहार तथा आर्थिक पुनर्निर्माण का नया अभिविन्यास मात्र समकालीन दुनिया की ज़रूरतों को पूरा नहीं करता। यह एक सांस्कृतिक संकट का अनुभव था जिस से जीवन के प्रति एक नयी दृष्टि—एक नयी सामाजिक विचारधारा, एक नये दर्शन, की ज़रूरत महसूस होती थी।

यह हमारे समय के उस महान मानवीय प्रयास में एक विनम्र योगदान है। रैडिकल लोकतन्त्र के सिद्धान्त-सूत्र इस घोषणापत्र की केन्द्रीय वस्तु हैं जिस की आधार सामग्री मेरी पुस्तकों 'न्यू ऑरिएन्टेशन' तथा 'बियॉन्ड कम्युनिज़्म' में उपलब्ध है।

देहरादून
15 अगस्त 1947

—एम.एन. राय

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

अगस्त 1947 में इस घोषणापत्र के जारी होने के बाद 1948 के दिसम्बर के अन्त में कलकत्ता में आयोजित रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय अधिवेशन में पार्टी ने एक राजनीतिक दल के रूप में अपने को निष्क्रिय करते हुए रैडिकल मानववादी आन्दोलन के रूप में परिवर्तित होने का निश्चय किया। यह निश्चय तीसरे पार्टी अधिवेशन द्वारा स्वीकृत रैडिकल लोकतन्त्र के सिद्धान्तों तथा घोषणापत्र में उनके विस्तार पर और स्पष्टीकरण तथा विचारों के सुगठित होने का तर्कसम्मत परिणाम था। सिद्धान्त-सूत्र तथा प्रस्ताव का पाठ दूसरे संस्करण के परिशिष्ट में आधार सामग्री के रूप में जोड़ दिये गये हैं। सिद्धान्त-सूत्र संख्या उन्नीस और बीस तथा

घोषणापत्र के अन्तिम तीन पैरा रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के विघटन के प्रस्ताव के अनुसार संशोधित कर दिये गये हैं। पाद-टिप्पणियों में मूल पाठ भी दे दिया गया है।

नव मानववाद के दर्शन से प्रसूत राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त और व्यवहार पर दो वक्तव्य जारी करने के लिए रैडिकल मानववादी आन्दोलन का प्रथम अधिवेशन 1951 की फरवरी के शुरू में कलकत्ता में आयोजित किया गया। उन वक्तव्यों के स्पष्टीकरण में दिया गया मेरा व्याख्यान भी इस द्वितीय संस्करण के परिशिष्ट में सम्मिलित कर लिया गया है। यह एक समाजदर्शन की रूपरेखा है जिसे इतिहास के मानववादी दर्शन के आधार पर विकसित किया जाना है। सभ्यता के उषाकाल से इतिहास की मानववादी व्याख्या का एक प्रयत्न मेरी पुस्तक 'रीज़न, रोमांटिसिज़्म एंड रिवोल्यूशन' में किया गया है।

अन्त में, यह निर्दिष्ट करना ज़रूरी है कि सिद्धान्त-सूत्रों में रेखांकित इतिहास और समाज के मानववादी दर्शन के सिद्धान्त प्रकृति और जीवन के सामान्य दर्शन से ही निर्गमित हैं तथा सिद्धान्त-सूत्रों में निर्दिष्ट सृष्टिमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय तथा नैतिक अवधारणाओं और प्रस्थापनाओं के आधार पर उन का सविस्तार प्रतिपादन अभी किया जाना है। 1949 के इंडियन रिनेसाँ इंस्टीट्यूट के उच्च अध्ययन के लिए आयोजित ग्रीष्म शिविर में नव मानववाद के दार्शनिक आधारों के इन विभिन्न पहलुओं पर विचार-विमर्श किया गया। उस अवसर पर दिया गया मेरा उद्घाटन वक्तव्य भी परिशिष्ट में सम्मिलित है।

यहाँ एक राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किये जाने के बावजूद नव मानववाद एक समग्र दर्शन है। वैज्ञानिक ज्ञान की निरन्तर बढ़ती समग्रता पर आधारित होने के कारण यह निश्चय ही एक बन्द पद्धति नहीं हो सकता। यह अमोघता और अन्तिमता का दावा करने वाला मतवाद नहीं होगा। अस्तित्व के विविध पहलुओं के ज्ञान का तर्कसम्मत समाकलन करते हुए यह दिखायेगा कि कैसे मनुष्य अपनी प्रकृति में ही विवेकशील और नैतिक होने के कारण एक स्वतन्त्र, सुसंगत और न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था का निर्माण करने में समर्थ है।

देहरादून
अप्रैल 1953

—एम.एन. राय

अनुक्रम

साम्यवादी घोषणापत्र के बाद 15
प्रचलित विचारधाराओं की अपर्याप्तता 18
साम्यवादी सिद्धान्त और व्यवहार का अपकर्ष 23
मार्क्सवाद की उदार वंशावली 28
क्रान्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त 33
एक नया राजनीतिक दर्शन 41
मौलिक लोकतन्त्र 44

परिशिष्ट

एक : मौलिक मानववाद के सिद्धान्त-सूत्र. 55
दो : नव मानववाद का व्यवहार 63
तीन : विज्ञान और समाज 70
चार : एक नये समाजदर्शन की बुनियाद 76

एक

साम्यवादी घोषणापत्र के बाद

सर्वहारा क्रान्ति के युग की घोषणा करने के लिए साम्यवादी घोषणापत्र को जारी हुए एक शताब्दी बीत गयी है। उस ने यूरोप पर विचरण करने के लिए साम्यवाद के भूत का आह्वान किया था जिस से उदीयमान बुर्जुआ के मन में आतंक पैदा हो गया। विडम्बना ही है कि जो चित्र उस समय मुश्किल से यथार्थवादी लगता था, अब वह एक प्रकार से सचाई बन चुका है। पूँजीवादी शोषण से उत्पीड़ित और सन्तप्त सभ्य संसार के लिए मुक्ति के रूप में घोषित साम्यवाद व्यवहार में एक ऐसी काली छाया प्रमाणित हुआ है जिस ने केवल बुर्जुआ वर्ग को ही आतंकित नहीं किया; उस ने आधुनिक दुनिया की उन प्रगतिशील शक्तियों के बीच भी गम्भीर आशंकाओं को पैदा किया है जो राजनीतिक और सामाजिक सम्बन्धों में एक बुनियादी पुनर्समायोजन की आत्यन्तिक आवश्यकता को तो बहुत तीव्रता से महसूस करती है, लेकिन साथ

ही मानवता की सर्वाधिक बेशक़ीमती विरासत सांस्कृतिक मूल्यों को सामाजिक क्रान्ति के तूफ़ानी समुद्र में, यदि निर्दयता से नहीं भी तो, लापरवाही से खो देना नहीं चाहती।

यह इतिहास की विडम्बना है या भाग्य की? जो भी हो, इस का कारण यह तथ्य है कि एक शताब्दी पूर्व इतनी धूमधाम और पैग़म्बरी विश्वास से घोषित सर्वहारा क्रान्ति का युग कभी आया ही नहीं। लगभग तीन-चौथाई सदी बीतने के बाद अपेक्षित क्रान्ति एक देश में मोटे तौर पर निर्धारित नमूने के अनुसार हो सकी। लेकिन इस का विस्तार विश्वक्रान्ति के रूप में नहीं हुआ; और रूस में भी क्रान्ति के बाद हुआ विकास आश्वस्तिकर नहीं था; वह साम्यवादी घोषणापत्र में चित्रित आदर्श की ओर उन्मुख नहीं हुआ। इस से पूर्व ही सर्वहारा क्रान्ति की तस्वीर, अपना मौलिक नैतिक आकर्षण और मानववादी स्वच्छन्दता की मोहकता गवाँ चुकी थी। एक देश में इस की सफलता ने भी व्यवहारतः यह प्रमाणित कर दिया कि नयी व्यवस्था एक मुक्त प्रमथ्यु के रूप में मनुष्य की सृष्टि नहीं होनी है; कि बौद्धिक, नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में मानवीय सर्जनात्मकता बन्धनमुक्त नहीं होने दी जायेगी; कि नयी व्यवस्था भी सर्वहारा के सामूहिक अहं की वेदी के सम्मुख वर्ग के घटक व्यक्ति की ग़ुलामी और बलि की माँग करेगी।

इस विफलता का परिणाम एक महात्रासदी के रूप में सामने आया। जब अन्ततः सर्वहारा क्रान्ति का युग शुरू होने को था तो वह एक विजयोल्लसित प्रतिक्रिया के रूप में बदल गया—एक प्रतिक्रान्ति के रूप में। यह निश्चय ही इतिहास की एक विडम्बना थी।

साम्यवादी घोषणापत्र के उद्घोष के अनुसार सर्वहारा क्रान्ति की विजय के साथ ही मानव इतिहास का आरम्भ होना था। इससे पूर्व वह प्राक्-इतिहास था जिस में युगों तक मनुष्य एक वर्गबद्ध समाज के बन्धनों में रहने को विवश था। सर्वहारा क्रान्ति के युग का परमोत्कर्ष एक विश्वक्रान्ति में होना था जो अन्ततः इतिहास में एक मुक्त मानवता का अग्रदूत होती—एक प्रेरणाप्रद किन्तु भ्रान्तिपूर्ण इतिहास-दृष्टि। तथापि, पहली सर्वहारा क्रान्ति अपेक्षित विश्वक्रान्ति की ओर नहीं ले गयी। इतिहास का आरम्भ नहीं हुआ। जंगल के क़ानून से शासित, प्राक्-इतिहास में अटका हुआ सभ्य संसार अपने अन्त की ओर बढ़ रहा है। पहले के दोनों विश्वयुद्धों से अधिक विनाशकारी तीसरे विश्वयुद्ध का और कोई परिणाम नहीं होगा।

प्रथम विश्वयुद्ध को पूँजीवाद के अन्तर्विरोध और साम्राज्यवादी देशों की प्रतिद्वंन्द्विता ने उकसाया। इस ने सर्वहारा क्रान्ति के विलम्बित आरम्भ को सम्भव किया। इस के बाद मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मकता सक्रिय हुई—मानो एक प्रतिहिंसा के साथ साम्यवाद के प्रतिवाद के रूप में फ़ाशीवाद का उदय हुआ; द्वितीय विश्वयुद्ध प्रतिवाद का प्रतिवाद हो सकता था; लेकिन इस ने एक ऐसी परिस्थिति को जन्म दिया जो एक और

विश्वयुद्ध की ओर ले जाने वाली है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति न केवल इस ख़तरनाक दिशा में अग्रसर है बल्कि इस युद्धग्रस्त विश्व के अपेक्षित रक्षक ही इसे चट्टान के किनारे की ओर अन्धाधुन्ध धकेले जा रहे हैं।

इस प्रकार साम्यवादी घोषणापत्र द्वारा उद्घोषित और रूसी क्रान्ति द्वारा उद्घाटित सर्वहारा क्रान्ति का युग एक उच्चतर सभ्यता के परिदृश्य को नहीं खोल पाया; परिदृश्य निश्चय ही भविष्य सूचक है। एक पूरी शताब्दी का आशावाद क्या नैराश्य में समाप्त होने वाला दिवास्वप्न रहा है? या क्या यह सब एक दुःस्वप्न था?

दो

प्रचलित विचारधाराओं की अपर्याप्तता

मानवता के भविष्य में आस्था रखने वाले सभी विचारशील लोग इस निराशाजनक परिदृश्य से बहुत क्षुब्ध होंगे। लेकिन उन्हें भाग्यवाद की ओर ले जाने वाले असहायता के भाव से ग्रस्त होकर स्तम्भित नहीं खड़े रहना चाहिए। उन्हें सभ्य संसार के अस्तित्व को ही ख़तरे में डालने वाले इस रोग़ के कारण को समझने के लिए तीव्र विचारशीलता और उसे मिटाने के लिए साहसपूर्ण सक्रियता की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम तो विवेक की आवाज़ को उठाने की ज़रूरत है ताकि प्रगतिशील संसार को कट्टरता और अन्ध आवेग की उन विविध प्रवृत्तियों से सचेत किया जा सके जो नितान्त पागलपन का वातावरण रच रही हैं। यह सोचना एकान्त विचारहीनता और लगभग आपराधिक ग़ैरज़िम्मेदारी है कि एक और युद्ध अवश्यम्भावी है और उसी से इस पुरानी दुनिया का विनाश होकर एक नयी दुनिया के लिए भूमिका तैयार

होगी। यह विचार आर्थिक नियतिवाद की मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी के अनुरूप हो सकता है। लेकिन वस्तुतः यह विचार मानव संस्कृति की गतिशीलता के दुर्भाग्यपूर्ण अज्ञान के साथ-साथ इस निराधार विश्वास का व्यंग्यपूर्ण प्रदर्शन भी है कि कथित 'प्राक्-इतिहास' जंगल के क़ानून से शासित होने के लिए बाध्य है।

यदि एक और युद्ध विश्वक्रान्ति की अन्तिम विजय के लिए अनिवार्य शर्त है तो क्रान्ति की उन्मादी शक्तियाँ एक अत्यन्त महंगे युद्ध की ओर बढ़ेंगी। यह समझने के लिए किसी उच्च कल्पनाशक्ति की आवश्यकता नहीं है कि एक और विश्वयुद्ध के परिणाम अत्यन्त विनाशकारी होंगे—इतने विनाशकारी कि शायद आधुनिक सभ्यता ही पूरी तरह ध्वस्त हो जाय। इस आसन्न महाविपत्ति को टालने के लिए हर सम्भव प्रयास किये जाने अनिवार्य हैं। इस उद्देश्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उन पुराने राजनीतिक मतवादों और एक आदर्श लोक की सैद्धान्तिक अवधारणाओं को प्रतिस्थापित किया जाय जिन्हें इतिहास ने निर्ममतापूर्वक निर्मूल कर दिया है। न तो कथित पश्चिमी लोकतन्त्र और न रूसी साम्यवाद ही उस युद्ध को टाल सकते हैं जिस की ओर यह दुनिया मानो नियतिबद्ध बढ़ी जा रही है। कोई भी प्रतिस्पर्धी ऐसा पर्याप्त प्रेरक नेतृत्व देने में सक्षम नहीं है जो समकालीन दुनिया को इस संकट से उबार सके। एक के पास सभी बुराइयों की रामबाण दवा के रूप में केवल संस्थावादी ढाँचा हैं तो दूसरे के पास, इस से विपरीत, अब भी वही आदर्श है, जो अपनी सिद्धि की प्रक्रिया में आदर्शलोक की सारी मोहकता खो कर उन सब के लिए विकर्षक बन चुका है जो इस दुनिया को सर्वसत्तावादी शक्ति और आध्यात्मिक जकड़बन्दी से मुक्त करवाने के लिए लड़े थे।

अभी भी लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समता के आदर्शों की अनुयायी और सांस्कृतिक मूल्यों की मानवीय विरासत को संजोये रखने वाली प्रगतिशील दुनिया युद्धोत्तर विश्व के नेतृत्व के दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच फँसी हुई है। समान आचार संहिता और मूल्यों की कसौटी के अभाव में उद्देश्य की एकता नहीं हो सकती और इसीलिए सहयोग भी नहीं। इसी का परिणाम है यन्त्रणादायक सन्देहों, क्षयकारी अविश्वासों, एक-दूसरे की पीठ में छुरा घोंपने के कटु प्रयत्नों का वातावरण तथा सामान्य अस्थिरता और आसन्न महाविपत्ति का भय। अपने सम्पूर्ण इतिहास के इस सबसे गम्भीर संकट में सभ्य संसार को एक नयी आशा, नये विश्वास, नये आदर्श–समय और परिस्थिति के अनुरूप क्रान्तिकारी सिद्धान्त और व्यवहार के एक नये दर्शन की आवश्यकता है।

फ़िलहाल यह त्रासदी अपरिहार्य लग रही है। युद्धोत्तर विश्व का नाटक ग्रीक त्रासदी की कठोर नियतिवादिता के साथ अपने को खोल रहा लगता है। एक ओर, रूस और उसके विदेशी उपग्रहों के एकाश्म दल के अधिनायकत्व के मतवाद से बँधे साम्यवादी, जो दल पर कभी भी छद्म आवरण डाल सकते हैं, उन लोगों की

सदाशयता पर विश्वास करने को तैयार नहीं हैं जो यह मानते हैं कि लोकतान्त्रिक तरीकों से समाजवाद स्थापित किया जा सकता है। दूसरी ओर, पूँजीवादी व्यवस्था में विश्वास खो कर एक नये समाज के निर्माण में सहयोग देने के इच्छुक यूरोप में फैले ईमानदार प्रगतिशील तत्त्व अधिनायकत्व के किसी भी विचार से बिदकते हैं—ख़ास तौर से फ़ाशीवाद के विरुद्ध कड़वे संघर्ष में इतने कष्टों और बलिदानों के बाद। लोकतान्त्रिक परम्परा वाले देशों के पक्के समाजवादियों की बहुसंख्यक सेना भी किसी क़िस्म के अधिनायकत्व का समर्थन नहीं करेगी। इन प्रतिद्वन्द्वी विचारों के किसी संश्लेषण या सामंजस्य की कोई आशा नहीं दिखायी देती। पिछले पच्चीस या उस से भी कुछ अधिक समय से यूरोप का राजनीतिक इतिहास लोकतान्त्रिक समाजवादियों और साम्यवादियों के अन्तहीन प्रत्यारोपों से विषाक्त रहा है। इस खेदजनक परम्परा को मिटाया नहीं जा सकता। यह कोई सतही भेद नहीं था। लोकतन्त्र और अधिनायकत्व की अवधारणाएँ परस्पर ऐकान्तिक हैं; वे तार्किक स्तर पर प्रतिद्वन्द्वी दर्शनों और सामाजिक आचार तथा नीतिशास्त्र की विपरीत संहिताओं से सम्बद्ध हैं।

उदारवादी परम्परा से प्रेरित लोकतान्त्रिक समाजवादियों अथवा सामाजिक लोकतन्त्रवादियों की धारणा थी कि सामाजिक संगठन स्वैच्छिक, वैयक्तिक प्रयत्नों का एक सामंजस्य है। एक मुक्त व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह किसी विवशता के कारण या सामूहिक अहं के कठोर देवता के सम्मुख श्रद्धांजलि के रूप में नहीं बल्कि अपनी स्वतन्त्रता की चेतना से प्रसूत नैतिक आस्था के कारण करता है। इस के विपरीत, अधिनायकत्व की धारणा आधुनिक सभ्यता के सांस्कृतिक दाय से पूर्णतया विच्छिन्न है। यह उन सभी सामाजिक और नैतिक मूल्यों का निषेध है जो पवित्र रोमन साम्राज्य के लौकिक सर्वसत्तावाद और ईसाई चर्च के झंडे तले आध्यात्मिक जकड़बन्दी के विरुद्ध पुनर्जागरणकालीन मनुष्य के विद्रोह के बाद से मानवता की मुक्तिकामना को अभिव्यक्ति देते रहे हैं। इस कारण विश्व को दो विरोधी शिविरों में बाँट देने वाली इन दो विचारधाराओं के बीच कोई सामंजस्य सम्भव नहीं है। कोई एक विचारधारा निर्णायक बहुमत को अपने पक्ष में ले कर दूसरी को सदा के लिए समाप्त भी नहीं कर सकती है। दोनों ही दोषपूर्ण और समकालीन विश्व की आवश्यकताओं को पूरा करने में अक्षम हैं। अनुभव ने दोनों को ही अविश्वसनीय सिद्ध कर दिया है।

एक प्रशंसनीय साध्य के लिए भी साधन के रूप में अधिनायकत्व का सिद्धान्त और व्यवहार पूर्णतया असंगत है। लेकिन, दूसरी ओर, संसदीय लोकतन्त्र की सीमाओं की भी अब अनदेखी नहीं की जा सकती। इस के अन्तर्गत नागरिक स्वतन्त्रताओं को केवल औपचारिक बनाया जा सकता है। यदि हम इस मार्क्सवादी अवधारणा को न भी मानें कि संसदीय लोकतन्त्र भी एक क़िस्म का वर्ग अधिनायकत्व है—

यद्यपि इस धारणा को आसानी से ख़ारिज नहीं किया जा सकता—तो भी आधुनिक इतिहास के विवेचकों को संसदीय लोकतन्त्र में अन्तर्निहित अपर्याप्तताओं को देख पाना चाहिए। एक अत्यधिक जटिल आधुनिक औद्योगिक समाज में व्यक्ति नागरिकों, विशेषतया आर्थिक प्रतिकूलताओं में काम कर रहे बहुसंख्यक वर्ग से सम्बन्धित व्यक्ति नागरिकों को बहुत कम अवसर हैं कि वे अपने सम्प्रभुता के उस अधिकार का प्रभावी प्रयोग कर सकें जो औपचारिक रूप से उन का है। क़ानून उन्हें नगण्य सुरक्षा देता है—ख़ास तौर पर संकट के समय। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत लोकतन्त्र कार्यपालिका को नियन्त्रित नहीं कर सकता। दो चुनावों के बीच की अवधि में लोकतन्त्र दृश्य से पूरी तरह बाहर रहता है। इस अवधि में संसद में बहुमत वाला दल संवैधानिक रूप से अधिनायकवादी शक्तियाँ ग्रहण कर सकता है। लोकतान्त्रिक अनुमोदन से सम्भव शक्ति के इस दुरुपयोग के विरुद्ध कोई क़ानूनी सुरक्षा नहीं है। यह सुरक्षा केवल बहुमत दल के नैतिक बोध पर निर्भर रहती है। इस प्रकार औपचारिक संसदवाद हर परिस्थिति में लोकतन्त्र को बचाने और नागरिक स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा में सफल नहीं हो सकता। मात्र एक हिटलर ही 'लोकतान्त्रिक' तरीके से सत्ता में नहीं आया, पिछली एक चौथाई शती के इतिहास ने बहुत से देशों के अनुभव को दर्ज किया है जहाँ अधिनायकत्व को लोकतान्त्रिक अनुमोदन प्राप्त था, यद्यपि सत्तारूढ़ होने के बाद इस सीढ़ी को ठुकरा दिया गया।

संसदीय लोकतन्त्र का मूल दोष उदारवाद के दर्शन और राजनीतिक व्यवहार के अन्तर्विरोध से उपजता है। अपनी मानववादी परम्परा के प्रति सच्ची निष्ठा के कारण उदारवाद ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा की, लेकिन अहस्तक्षेप के आर्थिक सिद्धान्त ने, अपने राजनीतिक उपसिद्धान्त के साथ, व्यक्ति को गलाकाट प्रतिस्पर्धा के बीहड़ में एक असहाय अवस्था में ला दिया। ऐसी परिस्थितियों में अपने दर्शन की नैतिक उत्कृष्टता को उदारवाद के सामाजिक और राजनीतिक व्यवहार द्वारा नकार दिये जाने के कारण संसदीय लोकतन्त्र का अविश्वसनीय हो जाना अनिवार्य था। यदि ऐसा न होता तो फ़ाशीवाद के तूफ़ानी उदय का तर्क समझ में नहीं आ सकता था।

फ़ाशीवाद उस संसदीय लोकतन्त्र के संकट से पैदा हुआ जिसमें दो युद्धों के बीच यूरोप के सम्मुख प्रस्तुत सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ सुलझायी नहीं जा सकी थीं। फ़ाशीवाद से बचने के लिए लोकतन्त्र को अकिंचन और इस प्रकार असहाय निर्वाचक पर आधारित औपचारिक संसदवाद की सीमाओं से ऊपर उठाना होगा। राज्य पर निरन्तर नियन्त्रण कर सकने वाला संगठित लोकतन्त्र ही नयी समाज-व्यवस्था का राजनीतिक आधार हो सकता है। इस दिशा की ओर पुनः अभिमुख होकर जीवन की लोकतान्त्रिक दृष्टि आधुनिक प्रगतिशील मानवता के सम्मुख उस

राजनीतिक और आर्थिक पुनर्निर्माण का एक नया परिदृश्य खोल सकेगी जिस में न तो रक्त और आँसुओं के एक अनिश्चित काल की कल्पना होगी, और न ही जिस पर शान्तिपूर्ण विकास के वैकल्पिक मार्ग के बारे में सन्देहों का घटाटोप छाया होगा। सभ्यता के आरम्भ से संगृहीत होते जा रहे सांस्कृतिक मूल्यों का भंडार अखूट है। अतीत की बहुमूल्य विरासत भविष्य की उस शानदार संरचना के लिए एक सुदृढ़ नींव बन सकती है जो क्रान्तिकारियों, स्वच्छन्दतावादियों, यूटोपियावादियों और आदर्शवादियों का समान स्वप्न रहा है। यदि समाजवाद या साम्यवाद के बीज पूँजीवादी समाज के गर्भ में अंकुरित हो सकते हैं, तो भविष्य के सच्चे मुक्तिकामी दर्शन की प्रेरणा भी कथित बुर्जुआ संस्कृति के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से मिल सकनी चाहिए।

तीन

साम्यवादी सिद्धान्त और व्यवहार का अपकर्ष

सर्वहारा के दल द्वारा एक देश में राज्यशक्ति पर अधिकार कर लेने के साथ ही सर्वहारा क्रान्ति के युग का अवसान हो गया। कुल मिला कर क्रान्ति और विशेषतया उस का रचनात्मक पक्ष मार्क्सवादी योजना के अनुसार नहीं रहा। उस का प्रारम्भिक चरण भी आदर्श नमूने के अनुसार नहीं था। मार्क्सवादी पूर्वानुमान के अनुसार क्रान्ति की सम्भावना सर्वप्रथम इंग्लैंड जैसे किसी औद्योगिक देश में थी, न कि आधुनिक दुनिया के पिछवाड़े रुके हुए जल में। रूसी क्रान्ति एक आकस्मिकता थी—परिस्थितियों के एक अकस्मात् संयोजन का परिणाम। अपने आप में वह ऐतिहासिक नियतिवाद की यान्त्रिक दृष्टि का निषेध थी। ऐतिहासिक विकास की पूर्वनिर्धारित योजना का आवश्यक अंग न होने के कारण वह विश्वक्रान्ति का संकेत

नहीं थी। इसके विपरीत, दूसरे देशों में क्रान्ति के फैलने की आशा भी शीघ्र ही, 1921 तक, समाप्त हो गयी।

इस के बाद रूस में क्रान्ति को अज्ञात समुद्रों की यात्रा करनी पड़ी। आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्या का सामना करते हुए लेनिन ने तत्काल समझ लिया कि मार्क्स ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। सभी मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त आलोचनात्मक हैं। मार्क्स का सरोकार पूँजीवाद की चीरफाड़ और उस का उद्देश्य उस के अन्तर्विरोधों को उजागर करना था। उसी के आधार पर उसने घोषणा की थी कि अपना समय पूरा कर पूँजीवाद अपने अन्तर्विरोधों के बोझ तले टूट जायेगा और उस के मलबे से समाजवाद का उदय होगा। इतिहास की पैग़म्बरी दृष्टि ने उसे समाजवादी पुनर्रचना की योजना नहीं बनाने दी। इस का निर्धारण उत्पादन की शक्तियों के विकास के अनुसार होना था। क्रान्ति पूँजीवाद के बन्धनों से मुक्त कर देगी; उस के बाद भविष्य अपनी सँभाल स्वयं कर लेगा। अर्थशास्त्री की हैसियत से मार्क्स एक आलोचक था। उस के विशद लेखन में सामाजिक अभियान्त्रिकी अथवा प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। भविष्य के लिए कोई भी योजना 'यूटोपिया' थी जिस की मार्क्स तीखी भर्त्सना कर रहा था। अपनी 'नयी आर्थिक नीति' का बचाव करते हुए स्वयं लेनिन ने कहा था कि मार्क्स की कृतियों में समाजवाद के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में एक भी शब्द नहीं है।

क्रान्ति के बाद की राजनीतिक प्रणाली के बारे में भी मार्क्स ने कुछ नहीं लिखा है। उस ने सिंहासनच्युत बुर्जुआ के प्रतिरोध को तोड़ने के साधन के रूप में सर्वहारा के अधिनायकत्व की परिकल्पना की थी। लेकिन उसके बाद क्या होगा, क्रान्ति के बाद कैसे समाज राजनीतिक रूप से संगठित और प्रशासित किया जायेगा—यह सब इतिहास की पूर्वनिर्धारित किन्तु अनिश्चित शक्तियों के संचलन पर छोड़ दिया गया। राज्य के क्रमिक अवसान के यूटोपिया के द्वारा उस ने राजनीतिक मुद्दे को टाल दिया। नयी व्यवस्था के आर्थिक अन्तस्सम्बन्धों की समस्या के बारे में उस ने पुराने अराजकतावादी आदर्श का सहारा लिया—'प्रत्येक से उस की क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उस की आवश्यकता के अनुसार'—जो लेनिन के अनुसार एक निरर्थक नारा था।

गुरु के प्रमाण के आधार पर स्टालिन संविधान में इस उक्ति को संशोधित कर दिया गया : 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उस के काम के अनुसार'। गो पारम्परिक उक्ति एक निरर्थक नारा थी, लेकिन यह संशोधन एक पुनरुक्तिपरक वक्तव्य होते हुए भी अनिवार्यतः पूरा निरर्थक नहीं है; निश्चय ही इस का एक अर्थ है जो नयी समाज व्यवस्था में विषमता और सम्पत्ति के असमान वितरण को उचित ठहराता है। काम के मूल्यांकन का कोई उचित तरीका नहीं है। इस का निर्णय सत्तासीनों पर छोड़ दिया गया। और अब उस का परिणाम जगज़ाहिर है।

रूस में क्रान्ति के बाद का राजनीतिक व्यवहार और आर्थिक पुनर्निर्माण पूरी तरह परिणामवादी रहे। उन की कोई सैद्धान्तिक नींव नहीं थी और न वे मार्क्सवाद की विचारधारात्मक पद्धति पर आधारित थे। इसलिए उन्हें समाजवादी या साम्यवादी कहना स्वेच्छाचारिता है। दूसरी ओर, क्योंकि मसीहा ने नयी व्यवस्था के निर्माण की कोई मोटी-सी रूपरेखा भी नहीं दी और न यह बताया कि यह निर्माण कैसे किया जाना है, इसलिए यह लेबल किसी पर भी चस्पां किया जा सकता है और कोई यह नहीं सिद्ध कर सकता कि सोवियत राज्य और सोवियत अर्थ-व्यवस्था साम्यवादी नहीं हैं। नयी व्यवस्था का व्यावहारिक यथार्थ ऐसी किसी भी परिकल्पना या काल्पनिक तस्वीर में नहीं अंटाया जा सकता जिस ने आशावाद के उन दिनों में रोमांटिक आत्माओं को प्रेरित किया जब आदर्श को केवल सैद्धान्तिक स्तर पर वैध सिद्ध किया जा सकता था, क्योंकि उस की सिद्धि अभी भविष्य के गर्भ में थी। आदर्श और समाजवादी नयी व्यवस्था के बीच की इस विसंगति से उत्साह का मन्द हो जाना अपरिहार्य था। इस निराशाजनक अनुभव ने आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित किया, विशेषतया उन्हें जिन के लिए प्रगति का तात्पर्य समय में घटनाओं की एक शृंखला मात्र नहीं है; जो प्रगति का निर्णय करते समय शृंखला की अर्थवत्ता को एक निर्णायक घटक मानते हैं।

अब यह यथास्थिति और सामाजिक क्रान्ति के बीच, फ़ाशीवादी अधिनायकत्व द्वारा संबलित सड़े हुए पूँजीवाद के बदसूरत, दमनकारी और विकृत यथार्थ तथा राजनीतिक लोकतन्त्र और आर्थिक समता पर आधारित एक नये समाज के आदर्श के बीच चुनाव नहीं रह गया है। अब चुनाव एक नयी व्यवस्था के आदर्श और साम्यवाद के व्यावहारिक रूप के नये यथार्थ के बीच है।

पहले सामाजिक न्याय के समर्थकों के लिए चुनाव बहुत आसान था, लेकिन स्वतन्त्र विचारशील लोगों के लिए अब क्रान्ति के बाद के विकल्पों में से चुनाव करना बहुत मुश्किल हो गया है। न केवल साम्यवाद व्यवहार में निराशाप्रद रहा है; अनुभव ने स्वयं आदर्श पर भी सन्देह उत्पन्न कर दिया है। क्या उस आदर्श का अनुसरण करना उचित था जो नैकट्य के प्रत्येक चरण पर अपेक्षाओं से अत्यन्त दूर रहा हो? साथ ही, यथास्थिति निरन्तर असह्य होती चली गयी और बड़ी संख्या में लोगों को एक नयी व्यवस्था की ज़रूरत अधिक तीव्रता से महसूस होने लगी। क्रान्तिकारियों की जमात में भावनाओं के इस संघर्ष ने साम्यवादी आन्दोलन और इस की परिधि में संकट को और घनीभूत किया।

अन्ध श्रद्धा से प्रसूत अनुरूपतावाद अविचारशील मतान्धों को रोक सकता था। अन्य ने 'प्रतीक्षा करो और देखो' की आशापूर्ण प्रवृत्ति अपनायी; रूसी प्रयोग का निराशाजनक रूप आपातकालीन हो सकता है, क्रान्ति के दूसरे देशों में फैल जाने

पर वह नहीं रहेगा। लेकिन विजयोल्लसित प्रतिक्रिया के भयावह वातावरण में विश्वक्रान्ति की आशा समाप्त हो गयी तो आशावाद की यह सहिष्णु प्रवृत्ति भी टिक नहीं सकी। इस से प्रेरित तीव्र आत्मविश्लेषण का परिणाम एकाधिकारवादी शक्ति की आशा पर टिकी अन्ध श्रद्धा तथा नयी परिस्थिति की अदृष्ट समस्याओं के प्रति व्यावहारिक और बुद्धिमत्तापूर्ण रुख के बीच विभेद के रूप में सामने आया। ग़ैर-सर्वहारा परिधि को अलग कर दिया गया जिस से कमज़ोर हो कर साम्यवादी आन्दोलन सोवियत राज्य के व्यावहारिकतावाद का आज्ञाकारी हो गया। इस का कार्य अब विश्वक्रान्ति को बढ़ावा देना नहीं बल्कि रूसी राष्ट्र-राज्य की समाजवादी कही जाने वाली अवसरवादी नीतियों के समर्थन में काम करना रह गया।

आगामी विश्वक्रान्ति के लिए गठित कम्युनिस्ट इंटरनेशनल संकट का पहला शिकार था। वह क्रान्तिपूर्व और क्रान्त्युत्तर साम्यवादों के बीच की समस्याओं के अन्तर्विरोधों, साम्यवाद के सिद्धान्त और व्यवहार के बीच फट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। एक मात्र सत्तारूढ़ दल होने का लाभ उठा कर रूसी साम्यवादियों ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के नेतृत्व पर एकाधिकार कायम कर लिया। दूसरे देशों के दलों ने क्रान्तिपूर्व परिस्थितियों के प्रति, जिनमें उन्हें अभी भी काम करना पड़ रहा था, बुद्धिमत्तापूर्ण प्रतिक्रिया करने की अपनी स्वतन्त्रता स्वेच्छापूर्वक खो दी। रूसी साम्यवादियों को न केवल साम्यवादी व्यवहार बल्कि साम्यवादी सिद्धान्त के बारे में भी प्रामाणिक मान लिया गया। क्रान्ति के बाद की अदृष्ट परिस्थितियों में परिणामवादी व्यवहार ने मार्क्सवाद की वैचारिक पूर्वधारणाओं के सैद्धान्तिक अधःपतन के लिए अनुमोदन जुटा दिया। प्रथम सर्वहारा क्रान्ति द्वारा स्थापित राज्य का हित विश्वक्रान्ति की सम्भावना के विरुद्ध संघर्षरत हो गया। एक देश में समाजवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के आदर्श की सिद्धि को असम्भव बना दिया।

सोवियत गणतन्त्र के एक राष्ट्र-राज्य बन जाने पर—यद्यपि एक अलग क़िस्म का राष्ट्र-राज्य—अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-राजनीति के भँवर में पड़ना उस के लिए अनिवार्य था। रूसी अनुभव ने सिद्ध कर दिया कि समाजवाद या साम्यवाद राज्य पूँजीवाद से अधिक कुछ नहीं हो सकता। रूस का साम्यवादी राष्ट्र-राज्य ख़तरनाक यथास्थिति के ख़तरे को और बढ़ाता हुआ उस का अंगभूत हिस्सा बन गया। दो प्रकार के राष्ट्र-राज्यों में विरोध पूँजीवाद और समाजवाद के विरोध से कम कठोर नहीं है, यद्यपि शक्ति-राजनीति के संघर्ष ने विचारधारात्मक मुद्दों को ग्रस लिया है। क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के बीच नहीं बल्कि दो प्रकार के राष्ट्र-राज्यों के टकरावपूर्ण दो शिविरों में ध्रुवीकृत विश्व पर एक सार्वभौमिक सम्पूर्ण युद्ध का ख़तरा मँडरा रहा है जो सभ्यता का अन्त कर दे सकता है। क्या कोई मार्ग नहीं है? क्या इतिहास में एक और सभ्यता का अन्त दर्ज होना अवश्यम्भावी है?

यदि इस आसन्न महाविपत्ति को टालना है तो हमें साम्यवाद के भ्रामक आदर्श से मुक्त होना होगा। हमें उस मानवीय मौलिकता और मानवीय सर्जनात्मकता में आस्था रखनी होगी जिस का भंडार अक्षुण्ण है। कार्ल मार्क्स की पैग़म्बरी सैद्धान्तिकी के नियतिवाद के विरुद्ध विद्रोह करते हुए सामाजिक न्याय की नयी व्यवस्था के अग्रगामियों का मुख्य सरोकार ऐसी सामाजिक प्रौद्योगिकी और सामाजिक अभियान्त्रिकी होगा जो स्वतन्त्रता और नियोजन, व्यक्ति की स्वायत्तता और सामूहिक कल्याण की उन्नति और प्रगति के बीच समंजसता स्थापित कर सके।

चार

मार्क्सवाद की उदार वंशावली

इतिहास ने पूँजीवाद के मार्क्सवादी विश्लेषण की पुष्टि कर दी है; लेकिन यह सिद्धान्त इच्छित चिन्तन ही साबित हुआ है कि समाजवाद अनिवार्यतः पूँजीवाद का स्थान ले लेगा। इतिहास की आर्थिक व्याख्या मार्क्सवाद के लिए अनुतापकारक रही है। ऐसी कोई इतिहास-दृष्टि रचनात्मक सामाजिक कर्म के लिए विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकती जो उत्पादन की शक्तियों के अतिरिक्त मानव-जीवन के दूसरे घटकों, विशेषतया विचारों के गतिविज्ञान की अनदेखी करती और नैतिक समस्याओं की उपेक्षा करती हो। मार्क्सवादी इतिहासवाद अपने परीक्षण में खरा नहीं उतरा है। सभ्य मानवता को संकट से उबारने के लिए एक नया और अधिक व्यापक इतिहास-दर्शन आज की आत्यन्तिक आवश्यकता है। दूसरी ओर, भौतिक सामाजिक यथार्थ

की आर्थिक अपेक्षाओं से विच्छिन्न राजनीतिक सिद्धान्त और नैतिक शिक्षाएँ मतान्ध और कपटी होने को बाध्य हैं।

मूलतः, समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन में नैतिक उत्साह की कमी नहीं थी। पूँजीवादी व्यवस्था के अनैतिक होने की वजह से ही आन्दोलन के प्रवर्तकों द्वारा उस की भर्त्सना की गयी थी। एक नयी समाज व्यवस्था की माँग का अनुमोदन नैतिक था। सामाजिक न्याय की माँग का नैतिक तात्पर्य सुस्पष्ट था। मार्क्स ने अपने पूर्वजों को स्वप्नदर्शी कह कर उन की खिल्ली उड़ाई और समाजवाद को एक विज्ञान बना देने का दावा किया। लेकिन आर्थिक नियतिवाद पर बलाघात ने उस की सारतः वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि को उद्देश्यवाद में बदल दिया। समाजवादी समाज की रचना मनुष्य द्वारा नहीं होनी थी; उसे उत्पादन की शक्तियों के संचालन का अनिवार्य और स्वचालित परिणाम होना था : उसे ऐतिहासिक विकास का अनिवार्य उत्पाद होना था। मार्क्सवादी समाजवाद ने इस आधार पर विज्ञान की निरपेक्षता का दावा किया कि इतिहास के नियमों का ज्ञान हो जाने के बाद निश्चयपूर्वक यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि पूँजीवादी समाज समाजवादी नयी व्यवस्था को जन्म देगा। मार्क्स ने इन नियमों को खोज निकालने का दावा किया। लेकिन समाज-विज्ञान के इस न्यूटन का किसी लाप्लास ने अनुकरण नहीं किया। मार्क्स स्वयं एक झूठा पैग़म्बर साबित हुआ।

तथापि, मार्क्स इतिहास का वैसा शुष्कहृदय गणितीय भविष्यवक्ता नहीं था जैसा उस के अनुयायों द्वारा प्रख्यात किया गया है। वह एक मौलिक मानववादी और क्रान्ति में ज्वलन्त आस्था रखने वाला स्वच्छन्दतावादी था। क्रान्ति का विचार एक स्वच्छन्दतावादी विचार है क्योंकि वह अपनी दुनिया की पुनर्रचना करने की मनुष्य की शक्ति को पूर्वमान्य करता है। यदि सोद्देश्य मानवीय प्रयास की अनदेखी कर दी जाये, तो सामाजिक विकास एक यान्त्रिक विकास-प्रक्रिया हो कर रह जायेगा जिस में आकस्मिक महान परिवर्तनों और प्रासंगिक तेज रफ़्तार के लिए कोई जगह नहीं होगी। क्रान्ति के पैग़म्बर के रूप में मार्क्स एक स्वच्छन्दतावादी था। उस ने उस मानवीय सर्जनात्मकता में अपना विश्वास प्रकट किया जो सामाजिक विकास की प्रक्रिया को तीव्र कर के क्रान्ति को सम्भव करती है। एक मानववादी होने के नाते मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त की ऊर्जा उस का प्रभावशाली नैतिक आकर्षण था। उस के वस्तुनिष्ठ आलोचक भी सत्य की उत्कट तलाश और बौद्धिक ईमानदारी के लिए उस का सम्मान करते हैं। एक उच्च कोटि के नैतिक उत्साह और अन्याय के प्रति तीव्र घृणा के बिना वह दलित और शोषित वर्गो की स्थिति में सुधार के लिए एकाकी संघर्ष नहीं करता।

पाखंड और छद्म के विरुद्ध ज़ोशीले योद्धाओं में से एक मार्क्स अपनी जाति के प्राचीन पैग़म्बरों की परम्परा के अनुरूप एक महान नैतिकतावादी था। पूँजीवाद के

सार की उस की निर्मम व्याख्या एक कड़ी नैतिक भर्त्सना थी। अन्ततः, 'पूँजी' सामाजिक नीतिशास्त्र पर एक निबन्ध है—श्रमजीवी बहुमत की दासता के विरुद्ध एक शक्तिशाली प्रतिवाद। यह माना जा सकता है कि मार्क्स ने अपने आर्थिक विचारों के नैतिक आकर्षण को जान-बूझ कर सुस्पष्ट नहीं किया क्योंकि उसे स्थापित विषमतामूलक व्यवस्था के पाखंडी समर्थकों के शब्दाडम्बर से घृणा थी। तथापि, उसने एक नैतिकतावादी के रूप में इतिहास को प्रभावित किया है। केवल उस के कट्टर अनुयायी ही इस प्रभाव से असंक्रमित लगते रहे हैं!

यद्यपि मार्क्सवाद एक सर्वसत्तावादी सिद्धान्त बन चुका है, मार्क्स स्वतन्त्रता का हिमायती था और एक मानववादी के रूप में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्षधर। वह समाजवाद को 'स्वतन्त्रता का राज्य' कहता था जहाँ मनुष्य अपने सामाजिक परिवेश का स्वामी होगा। ऐसी मानववादी शिक्षा का उपदेश करने वाला कभी किसी कठोर सामूहिक अहं, सर्वहारा के भी सामूहिक अहं के मन्दिर का पुजारी नहीं हो सकता। मार्क्स के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में मानवीय विवेक उन अविवेकी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेगा जो अभी मनुष्य के जीवन के आतंकित किये हुए हैं; एक विवेकशील प्राणी के नाते मनुष्य अपनी नियति का स्वामी होगा। आर्थिक नियतिवाद की भ्रान्ति से मुक्त हो जाने पर मार्क्सवाद की मानववादी, मुक्तिवादी, नैतिक भावना हमारे समय के नये दर्शन का विकास कर सकेगी। वह मानवीय विरासत के संगृहीत भंडार का ही एक हिस्सा है जिस पर भविष्य के निर्माताओं को अपना दावा प्रस्तुत करना चाहिए।

उदारवादी परम्परा के सन्दर्भ में ही मार्क्सवाद के धनात्मक मूल्य का निर्धारण हो सकता है। बर्नस्टाइन संशोधनवादी नहीं था; समाजवाद को उदारवाद का युक्तिसम्मत विकास बतलाते हुए उस ने उस की वंशावली की रूपरेखा ही तो प्रस्तुत की थी। उस के इस दावे के सत्य की पहचान अभी शेष है कि व्यवहार में समाजवाद संगठित उदारवाद है। उदारवाद ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा की; लेकिन उदारवादी व्यवहार ने इस सिद्धान्त को औपचारिक बनाकर निष्प्रभावी कर दिया। समाजवाद ने इस सिद्धान्त को व्यवहार में उतारने की प्रतिज्ञा की।

मार्क्स के आर्थिक विचार उस की उदार वंशावली के स्पष्ट साक्ष्य हैं। 'आर्थिक मनुष्य' एक उदार धारणा है; और यह इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का प्रस्थान-बिन्दु है। मूल्य का श्रम सिद्धान्त मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की आधारशिला है। इसे रिकार्डो से उत्तराधिकार में लिया गया। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त का युक्तियुक्त निष्कर्ष है। अतिरिक्त मूल्य का विचार ग्रे, हॉजस्किन, थोम्पसन एवं अन्य प्रारम्भिक अंग्रेज समाजवादियों को सूझा था। कुल मिला कर, इस से इनकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स ने उसी शास्त्रीय इंगलिश राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत कुछ ग्रहण किया जिस की वह कड़ी आलोचना

करता था। उस की आलोचना सच्चे अर्थों में रचनात्मक थी जिस का उद्देश्य आलोच्य विचार पद्धतियों को उन की भ्रान्तियों से मुक्त करना था ताकि उन का धनात्मक सार-तत्त्व एक नयी अग्रवर्ती सैद्धान्तिक संरचना के आधार की भूमिका निभा सके। एडम स्मिथ ने यह विचार व्यक्त किया था कि 'मनुष्य जाति की बहुसंख्या के विचार अनिवार्यतः उन के साधारण पेशों से निर्मित होते हैं।' बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र के पिता ने इस मार्क्सवादी मान्यता की पूर्वकल्पना कर ली थी कि मनुष्यों के विचार उन की आजीविका के उपकरणों द्वारा निर्धारित होते हैं।

नैतिक समस्याओं के प्रति मार्क्सवादी रुख भी बुर्जुआ उपयोगितावाद की परम्परा में था। बेंथम ने घोषित कर दिया था कि भावुकतापूर्ण और संन्यासपरक नैतिकता अपनी उत्पत्ति में अभिजात है, इसलिए वह एक भिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण में वैध नहीं है। दार्शनिक मौलिकवादियों ने नैतिक समस्याओं पर व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से विचार किया। उन्होंने समाज के हितों के नाम पर व्यक्ति की बलि चढ़ा देने के सिद्धान्त पर प्रश्नचिह्न लगाया। आज्ञाकारिता और विनय के गुणों का अनौचित्य बताते हुए उन की मान्यता थी कि सामान्य समृद्धि और कल्याण व्यक्ति के अधिकारों और हितों की सुरक्षा के माध्यम से ही बढ़ाये जा सकते हैं। नैतिक व्यवस्था अनिवार्यतः हितों के सन्तुलन का ही परिणाम है। अपनी मानववादी आस्थाओं के विपरीत जाकर मार्क्स ने, फिर भी, व्यक्तिवाद की मुक्तिदायी मान्यता को बुर्जुआ कल्पना बताते हुए ख़ारिज कर दिया।

हेगेलीय प्रभाव ने मार्क्स को नैतिक समस्याओं के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को ख़ारिज करने के लिए प्रवृत्त किया। उपयोगितावादियों का नैतिक सापेक्षतावाद युक्तिमूलक था, जबकि मार्क्सवादी सापेक्षतावाद अपने दिखाव-बनाव के बावजूद हेगेलीय नैतिक प्रत्यक्षवाद का भविष्य में प्रक्षेपण होने के कारण मतान्धता है। 'शक्ति ही सत्य है' उक्ति को प्रतिष्ठापित करने के लिए हेगेल ने अनैतिकता को युक्तिमूलक बनाने का प्रयास किया। उस की यह प्रत्यक्षवादी नैतिक मान्यता नैतिक शून्यवाद ही है कि कहीं कोई नैतिक प्रतिमान नहीं है, इसलिए जो अस्तित्वमान है वही तर्कसम्मत है और शुभ भी। इस लिहाज से नैतिकता की हेगेलीय प्रत्यक्षवादी मान्यता और मार्क्सवादी सापेक्षतावाद में कोई फ़र्क़ नहीं है। प्रथम के अनुसार, वर्तमान शक्ति सत्य है; द्वितीय ने इस हेगेलीय मान्यता का भविष्य में प्रक्षेपण करते हुए भावी शक्ति को भी सत्य घोषित कर दिया। हेगेल ने कहा : जो है वह तर्कसम्मत है इसलिए शुभ है; मार्क्स ने जोड़ दिया : भविष्य स्पष्टतः वर्तमान से ही निकलेगा, इसलिए वह तर्कसम्मत होगा और शुभ भी। दूसरे शब्दों में, यदि आज शक्ति ही सत्य है तो कल भी ऐसा ही होगा। मार्क्स का भविष्य सत्तारूढ़ साम्यवाद का वर्तमान बन गया और नैतिक सवालों के प्रति मार्क्सवादी रुख़ प्रत्यक्षवादी।

एक देश में साम्यवादियों के सत्तारूढ़ होने के अनुभव ने नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मार्क्सवाद के हेगेलीय सार को उजागर कर दिया है। वहाँ जो कुछ है शुभ है; नयी व्यवस्था के बचाव के लिए जो कुछ किया जाता है नैतिक है; शक्ति ही सत्य है। यह हेगेलीय प्रत्यक्षवादी रुख मात्र रूस तक सीमित नहीं है जहाँ साम्यवादी शासक हैं; पूरी दुनिया के मार्क्सवादी इस के सहभागी हैं। इस का परिणाम है साम्यवादी आन्दोलन का अधःपतन और इसीलिए वह विखंडित और सड़ी हुई यथास्थिति के प्रति विद्रोह करने वालों में अपना आकर्षण खो रहा है। साथ ही, सामाजिक न्याय के लिए लड़ने वालों की सेना बढ़ रही है। ये सभी वर्गों से हैं—विशेषतया ग़ैर-सर्वहारा मध्यवर्ग से। सामाजिक शक्तियों का मार्क्स के अनुसार ध्रुवीकरण नहीं हुआ है। इसलिए क्रान्ति का प्रतिरूप भी उस के निर्धारित रूप के अनुसार नहीं हो सकता।

द्वन्द्वात्मकता के प्रति अपने सम्मोहन की वजह से हेगेलीय प्रभाव का अतिक्रमण न कर पाने के कारण मार्क्स अपने मूल नैतिक उत्कटतावाद से अलग हो गया जो, फिर भी, क्रान्ति के दर्शन का सर्वाधिक प्रभावी आकर्षण था। मार्क्सवाद का यह सार-तत्त्व उस के कट्टर समर्थकों द्वारा पूर्णतया भुला दिया गया, जिन्होंने अपने ईमान को राजनीतिक जेसुइटवाद में बदल दिया।

पाँच

क्रान्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

यह विचार केवल मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की ही नहीं बल्कि क्रान्ति के समग्र दर्शन की बुनियादी भ्रान्ति है कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन मात्र पूँजीवाद की ही विशेषता है और अनिवार्यतः श्रमिक वर्ग के शोषण को दर्शाता है। अपने श्रम का पूरा मूल्य नहीं प्राप्त करने वाला उत्पादक मात्र पूँजीवादी व्यवस्था की ही ख़ासियत नहीं है। इतिहास के प्रारम्भ से ही सामाजिक प्रगति, विशेषतया उत्पादन के साधनों के विकास की यह शर्त रही है कि किसी भी समय समुदाय के श्रम के सम्पूर्ण उत्पादन का पूरा व्यय नहीं किया जाय। अतिरिक्त को सामाजिक अधिशेष कहा जा सकता है जो युगों से सारी प्रगति का उत्तोलक रहा है। मार्क्सवादी आर्थिक भाषा में जिसे अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है, वह पूँजीवाद के अन्तर्गत उत्पादित सामाजिक अधिशेष है।

आर्थिक इतिहास का एक असाधारण मर्मभेदी अध्येता होने के नाते मार्क्स निश्चय ही अतिरिक्त उत्पादन की आवश्यकता और प्रगतिशील सामाजिक सार्थकता पर विवाद नहीं कर सकता था। आर्थिक दृष्टि से अतिरिक्त मूल्य की समाप्ति की माँग अव्यावहारिक और निश्चय ही आत्मघाती होगी। यदि अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को रोक दिया जाता है तो सामाजिक अधिशेष भी लुप्त हो जायेगा; तब प्रगति के उत्तोलक के न रहने पर समाज गतिहीन और अन्ततः ध्वस्त हो जायेगा। प्राचीन सभ्यताएँ सामाजिक अधिशेष की अपर्याप्तता या घटती की वजह से नष्ट हो गयीं।

इस आर्थिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मार्क्स की मान्यता थी कि पूँजीवादी उत्पादन का प्रयोजन 'तत्त्वतः अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन है'। लेकिन इस सन्दर्भ में उस ने अतिरिक्त मूल्य की समाप्ति का प्रस्ताव नहीं किया, यद्यपि श्रम के 'शोषण' को समाप्त करने के लिए यह ज़रूरी होना चाहिए था। आर्थिक सिद्धान्त के सन्दर्भ में जो प्रस्ताव तर्कानुसार प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा सकता था वह उस से निःसृत राजनीतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत परोक्ष रूप से किया गया। इस तथ्य की अनदेखी करते हुए कि सामाजिक अधिशेष का उत्पादन इस अर्थ में श्रम का शोषण है कि उस में उत्पादक को अपने श्रम का पूरा मूल्य नहीं मिलता और इस विचार की अवहेलना करते हुए कि यदि किसी अर्थ-व्यवस्था को गतिहीन नहीं होना है तो अधिशेष का उत्पादन अनिवार्य है, मार्क्स का विचार था कि पूँजीवादी व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन शोषण है क्योंकि इसका विनियोजन एक वर्ग द्वारा किया जाता है। इस भ्रामक विचार के सहचर के रूप में मार्क्स की माँग थी कि सामाजिक अधिशेष का वर्ग-विनियोजन समाप्त होना चाहिए; कि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त करने के लिए स्वत्वहर्ताओं का स्वत्वहरण अनिवार्य है।

किसी एक वर्ग द्वारा सामाजिक अधिशेष का विनियोजन निश्चय ही एक अवांछनीय व्यवस्था है; इसे समाप्त होना ही चाहिए। लेकिन इस माँग का आधार आर्थिक नहीं बल्कि नैतिक है; यह सामाजिक न्याय की माँग है जो किसी भी तरह क्रान्ति की मार्क्सवादी योजना का परिणाम नहीं है। मार्क्सवादी अर्थशास्त्र और उस पर आधारित क्रान्ति-दर्शन में तर्कानुसार अन्तर्निहित यह भ्रान्ति व्यावहारिक स्तर पर उजागर हो गयी है। मार्क्सवाद में परोक्ष रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत भी सामाजिक अधिशेष का उत्पादन होता रहेगा; और यह स्पष्ट माँग की गयी है कि समाजवाद की स्थापना के लिए स्वत्वहर्ताओं का सर्वहारा द्वारा स्वत्वहरण कर लिया जाना चाहिए। इस का स्पष्ट अर्थ यही है कि वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज के आदर्श-लोक के अवतरण को लम्बित करते हुए नयी व्यवस्था में भी नये शासक वर्ग सर्वहारा द्वारा सामाजिक अधिशेष का विनियोजन किया जाता रहेगा।

अनुभव क्रान्ति के इस भ्रान्तिपूर्ण दर्शन को ख़ारिज कर देने के लिए बाध्य करता है। रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता रहा है। अन्यथा, बहुप्रचारित और बहुप्रशंसित तीव्र औद्योगिक विस्तार का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता। पूँजी का संचय अनिवार्य शर्त है; और वह केवल अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के आधार पर ही सम्भव है जिस का तात्पर्य है उत्पादकों के उपभोज्य से अधिक उत्पादन। तीव्र औद्योगिक विस्तार का तात्पर्य है शीघ्र और अधिक संचय, जिस के लिए अतिरिक्त मूल्य की अधिक मात्रा अपेक्षित है। यदि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन श्रम के शोषण का प्रदर्शक है तो समाजवाद के अन्तर्गत भी श्रम का शोषण किया जा रहा है; और यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि रूस की समाजवादी व्यवस्था में तो श्रम का और भी अधिक शोषण किया जाता है ताकि नयी पूँजी के रूप में संचय के लिए अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन हो सके।

हमें या तो ट्रॉटस्की की घोषणा—'क्रान्ति के साथ विश्वासघात'—का समर्थन करना चाहिए या इस नतीजे पर पहुँच सकना चाहिए कि समाजवाद राज्य-पूँजीवाद से बेहतर और कुछ नहीं है। क्रान्ति के साथ विश्वासघात नहीं हुआ है; वह मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक प्रतिरूप के अनुसार है। पुनर्निर्माण का उस का परिणामवादी व्यवहार मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक पूर्वधारणाओं की लेनिन की व्याख्या का तर्कसम्मत निष्कर्ष है। नहीं, क्रान्ति के साथ विश्वासघात नहीं हुआ है। उसने स्वयं को लेनिन और स्टालिन के कट्टर नव-मार्क्सवाद की मतान्धताओं के अनुसार प्रकट किया है। क्रान्ति के पुराने दर्शन की भ्रान्तियाँ और अपर्याप्तताएँ अनुभव द्वारा उजागर कर दी गयी हैं ताकि एक नये क्रान्तिकारी दर्शन के पथ को प्रदीप्त करने के प्रयासों को प्रेरणा मिल सके।

अतिरिक्त मूल्य के भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त और विशेषतया उस के स्वत्वहरण के अनुभव ने वर्ग-संघर्ष की मतवादिता के लिए सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। मार्क्स और उस के कट्टर अनुयायों ने आर्थिक नियतिवाद में विश्वास के कारण सभ्यता के प्रारम्भ से अब तक के सम्पूर्ण इतिहास में वर्ग-संघर्ष को खोज निकाला। इसी आधार पर मार्क्स की स्थापना की कि सभ्यता का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है। समाज निश्चय ही सदैव वर्गों में बँटा रहा है और वर्गों के हित परस्पर टकरावपूर्ण रहे हैं। लेकिन साथ ही, एक संयोजक प्रवृत्ति भी रही है जिस ने समाज को एकसूत्र में बाँधे रखा है। अन्यथा, वह बार-बार बिखरता रहता और कोई सामाजिक विकास सम्भव नहीं हो पाता। मार्क्सवादी भविष्यवाणी के अनुसार समकालीन पूँजीवादी समाज का दो वर्गों में ध्रुवीकृत होने से इनकार वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त पर सन्देह उत्पन्न करता है। जहाँ तक अतीत का प्रश्न है, कुछ पटुता के इस्तेमाल से तथ्यों को किसी भी पूर्वकल्पित सैद्धान्तिक साँचे में बिठाया जा सकता है।

पूँजीवादी समाज में मध्यवर्ग की भूमिका को लेकर मार्क्सवाद निश्चय ही ग़लत है। इतिहास ने इस भविष्यवाणी का अनुमोदन नहीं किया है कि समय-प्रवाह में मध्यवर्ग लुप्त हो जायेगा। इस के विपरीत, प्रथम विश्वयुद्ध से प्रारम्भ संकटपूर्ण समय में मध्यवर्ग का बौद्धिक और राजनीतिक महत्त्व निर्णायक साबित हुआ है। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण ने अनिवार्यतः मध्यवर्ग का विस्तार किया है। लेकिन पूंजीवादी शोषण के लाभों से वंचित सब लोगों का सर्वहाराकरण नहीं हुआ है। शायद आर्थिक स्तर पर ऐसा कहा भी जा सके, लेकिन संस्कृति और शिक्षा जैसे कई निर्णायक महत्त्व के मामलों में वे घटनाओं को प्रभावित करने में समर्थ एक विशिष्ट सामाजिक घटक हैं। तथ्य तो यह है कि पूँजी और श्रम के बीच यथास्थिति के एक शक्तिशाली शत्रु के रूप में मध्यवर्ग की संख्या में बढ़ोतरी हुई है।

समाजवाद, निश्चय ही, एक मध्यवर्गीय विचारधारा है। पूँजी और श्रम के दोनों ही परस्पर विरोधी शिविरों से मुक्त तथा आवश्यक बौद्धिक उपलब्धियों से युक्त होने के कारण अकेला मध्यवर्ग ही ऐसे व्यक्तियों को पैदा कर सकता था जो तात्कालिक आर्थिक स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक न्याय और सामंजस्य पर आधारित एक नयी व्यवस्था की सम्भावनाओं पर विचार कर सकें। पूँजीवाद के अपक्षय ने मध्यवर्ग को आर्थिक रूप से बर्बाद कर दिया। इसी का परिणाम था कि यथास्थिति को, जिस में उन के लिए जगह नहीं थी, बदलने और नयी व्यवस्था के लिए संघर्ष करने की भावना उन में तीव्र हो गयी। आर्थिक निस्सहायता के कारण मध्यवर्ग समाजवाद के लिए संघर्ष में सर्वहारा का साथ देने के लिए तैयार हो गया, लेकिन उस का आशय किसी राज्य-पूँजीवाद से नहीं बल्कि एक अधिक समतामूलक समाज-व्यवस्था से था। तथापि, सांस्कृतिक स्तर पर उन का सर्वहाराकरण नहीं हुआ। वे मानव-सभ्यता के धनात्मक परिणाम के रूप में सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को आत्मसात करने में सक्षम थे और इस अनमोल विरासत को आर्थिक नियतिवाद के क्रान्तिकारी विधाता की वेदी पर बलि देने के लिए तैयार नहीं हुए। इस का परिणाम था क्रान्ति की शक्तियों में विभाजन। मार्क्सवादी मतवादिता ने आर्थिक तर्क को सर्वोच्च महत्त्व दिया जिस के नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति एक निन्दक रुख के साथ मिल कर मध्यवर्ग को अलग कर देने से क्रान्ति की शक्तियाँ बौद्धिक रूप से बहुत कमज़ोर हो गयीं। स्वार्थी अर्थवाद ने समाजवाद के नैतिक आकर्षण को ग्रस लिया।

लेनिन ने मध्यवर्ग की उपेक्षा की भूल को समझा और उसे सुधारने का प्रयास भी किया—लेकिन केवल संगठन के क्षेत्र में। सिद्धान्ततः मार्क्सवादी दुनिया के दूल्हे सर्वहारा ही रहे। फिर भी, क्रान्तिकारी दल की संगठनात्मक समस्याओं पर बहस करते हुए लेनिन ने माना कि सर्वहारा में स्वयमेव सामाजिक-लोकतान्त्रिक चेतना

नहीं विकसित हो सकती और इसलिए उसे बाहर से—मध्यवर्ग के बौद्धिकों से—आयत्त करना होगा। इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर बल देते हुए लेनिन का कहना था कि श्रमिक वर्ग सहज रूप से समाजवादी नहीं केवल ट्रेड-यूनियनवादी ही हो सकता है। इस से मार्क्सवादी अर्थवाद और इस सिद्धान्त का अन्तर्विरोध उजागर हो गया कि सर्वहारा नयी व्यवस्था का निर्माता है।

लेनिन ने अपने सिद्धान्त का सामान्यीकरण कर दिया : केवल रूस में ही नहीं, कहीं भी श्रमिक वर्ग एक स्वतन्त्र विचारधारा को विकसित करने में समर्थ नहीं हो सकता, वह बुर्जुआ अथवा मध्यवर्गीय समाजवादी बौद्धिकों में से किसी एक का अनुसरण करने को बाध्य है। यह इस बात की स्पष्ट स्वीकृति थी कि समाजवाद के आदर्श और सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त का जन्म श्रमिक वर्ग के अपने अनुभव से नहीं हुआ है, पहले की कल्पना और दूसरे की रचना मध्यवर्गीय बौद्धिकों द्वारा की गयी है। मार्क्सवाद के अनुसार, मध्यवर्गीय बौद्धिक वर्गों की भावनाएँ और विचार उन के वर्गीय अनुभवों से निर्धारित होने चाहिए। समाजवाद के अग्रवर्ती और निर्माता के रूप में सर्वहारा का महिमामंडन अकारण ही था। इस का श्रेय वस्तुतः मध्यवर्ग का है जिस की क्रान्ति की कट्टर मार्क्सवादी योजना में दुर्भाग्यपूर्ण निन्दा और सम्पूर्ण उपेक्षा की गयी।

लेनिन ने संगठन के स्तर पर एक ग़लती को दुरुस्त किया; लेकिन सिद्धान्ततः वह कट्टर मार्क्सवाद का अत्यन्त असहिष्णु प्रतिरक्षक था। उसने एक सम्पूर्णतया अलग उद्देश्य से—दल और उस की भूमिका के अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए—सर्वहारा की विचारधारात्मक सीमाओं की ओर संकेत किया था। सर्वहारा में समाजवाद का अन्तःक्षेपण क्योंकि मध्यवर्गीय बौद्धिकों द्वारा होना है, इसलिए सर्वहारा के दल का संयोजन उन दीक्षित क्रान्तिकारियों द्वारा ही होना चाहिए जो स्वाभाविक रूप से केवल मध्यवर्ग से ही आ पायेंगे। तथापि, सिद्धान्ततः लेनिन मध्यवर्ग के क्रान्तिकारी महत्त्व को मान्यता देने के लिये प्रस्तुत नहीं था। उस के द्वारा श्रमिक वर्ग के यथार्थवादी मूल्यांकन का परिणाम था दल को उस वर्ग पर थोपना जिस के प्रतिनिधित्व का वह दावा करता था। लेकिन दल किसी भी तरह वर्ग का अंग नहीं था। वह वर्ग के सामूहिक अहं को समाविष्ट करते हुए उस का स्वनियुक्त नेता था। फलस्वरूप, फ़ाशीवादियों ने इस 'नेतृत्व सिद्धान्त' में बहुत रुचि ली। लेकिन मतान्ध और हठीला लेनिन उस मान्यता का सिद्धान्तकार था जो साम्यवादी आन्दोलन का आधारभूत धर्मसूत्र थी।

आर्थिक नियतिवाद के अनुसार सर्वहारा बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से सर्वाधिक पिछड़ा वर्ग होना चाहिए। समाजवाद की स्थापना के बाद ही सर्वहारा के जीवन की आर्थिक स्थिति में सुधार सम्भव है जिस से बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की

सम्भावना उन्हें उपलब्ध होगी। इस सैद्धान्तिक पूर्वमान्यता के स्पष्ट निहितार्थ की उपेक्षा करते हुए मार्क्सवाद सर्वहारा को एक उच्चतर सभ्यता की ओर समाज के नेतृत्व की सम्मान्य भूमिका सौंपता है? अन्तर्विरोध पूरी तरह स्पष्ट है। साम्यवादी व्यवहार इस सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध से दूषित हुआ है। दल के नेतृत्व की क़ीमत के रूप में मध्यवर्गीय बौद्धिकों को सर्वहारा के बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर तक गिरने के लिए बाध्य कर इस दुष्चक्र से निकलने का रास्ता तलाश किया गया है।

साम्यवादी आन्दोलन में कोई बौद्धिक स्वतन्त्रता नहीं है; अपनी सर्वहारा संरचना से गौरवान्वित इस आन्दोलन में पूँजीवादी संस्कृति और बुर्जुआ नैतिकता का कोई उपयोग नहीं है। लेकिन अभी तक न तो अन्य कोई संस्कृति है, और न नैतिकता। 'सर्वहारा संस्कृति' पद में ही अन्तर्विरोध है; और सर्वहारा नैतिकता का आधारभूत सिद्धान्त है कि युद्ध तथा प्रेम में सब कुछ जायज़ है; श्रमिक वर्ग एक गृहयुद्ध में फँसा है—एक निकृष्टतम युद्ध में; साध्य ही साधनों का औचित्य है। साम्यवादी दल स्पष्टतः नैतिकता निरपेक्ष है और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति द्वेषपूर्ण रुख रखता है। मानवीय सभ्यता की उस समग्र विरासत की मुक्ति के लिए संघर्षरत समकालीन दुनिया के लिए वह एक प्रेरक नेतृत्व नहीं हो सकता जो व्यापकतर स्वतन्त्रता और उच्चतर संस्कृति की नयी व्यवस्था के लिए एकमात्र नींव हो सकती है। एक नैतिक संकट की प्रसव-पीड़ा में पड़ा सभ्य संसार समस्याओं के प्रति एक विवेकशील रुख तथा उदात्त दर्शन वाले किसी बेहतर नेतृत्व की तलाश में है।

सर्वहारा अपने आप में कोई क्रान्तिकारी शक्ति नहीं है। नयी व्यवस्था का आदर्श उसे आकर्षित कर सकता है। लेकिन बौद्धिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण वह एक वर्ग के रूप में दूरदृष्टि नहीं विकसित कर पाता। आरम्भ में, मार्क्सवाद ने इस तथ्य की ओर ध्यान देते हुए यह मान्यता स्थापित की थी कि सर्वहारा के वर्गचेतनायुक्त उस हरावल को ही क्रान्ति की ऐतिहासिक अनिवार्यता का अहसास होगा जिसे क्रान्तिकारी दल का निर्माण करना है।

एक अनम्य वर्ग-संघर्ष के मतवाद और पूर्णतः आर्थिक प्रोत्साहनों से संचालित दो वर्गों में समाज के ध्रुवीकरण की कृत्रिम आशा मार्क्स और लेनिन को—विशेषतया परवर्ती को—सर्वहारा के कथित हरावल द्वारा निर्मित विद्रोह के माध्यम से क्रान्ति के घटित होने की तथा उस के बाद लोगों पर उस के अधिनायकत्व की कल्पना की ओर ले गयी। रूसी अनुभव ने राजनीतिक प्रभुत्व, सांस्कृतिक जकड़बन्दी और आर्थिक दासता की एक नयी-व्यवस्था की रचना के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि यह सिद्धान्त न केवल अपने उद्देश्य में विफल है बल्कि रूस में अपनी आकस्मिक सफलता के बाद सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादियों की समान असफलता सत्ता हासिल करने के लिए एक तकनीक के रूप में भी इसे पूरे तौर पर अनुपयुक्त ठहराती है।

मार्क्स के बाद हुए वैज्ञानिक आविष्कारों ने अस्तित्वमान राज्यों की सैन्यशक्ति और दमनकारी ताक़त को बहुत बढ़ा दिया और अल्पसंख्यक विद्रोह के विचार को पूर्णतया अव्यावहारिक और पुराना बना दिया है। दूसरी ओर, वर्ग विचारधारा और सर्वहारा के अधिनायकत्व से अधिक प्रेरक और कुछ प्रस्तावित कर पाने में अपनी विफलता के चलते साम्यवादी सभी प्रगतिशील और क्रान्तिकारी शक्तियों को एक आन्दोलन के अन्तर्गत एकीकृत करने में सक्षम नहीं हो पाये; वे एक कट्टर और मतान्ध समूह बने रहे। साम्यवादी दलों को सर्वहारा में से भी सांस्कृतिक स्तर पर प्रगतिशील अंशों को अपनी ओर आकर्षित करने में विफलता मिली जो मोटे तौर पर पुराने सामाजिक-लोकतान्त्रिक दलों से ही जुड़े रहे। परिणामस्वरूप, मार्क्सवाद का क्रान्तिकारी आकर्षण मुख्यतया समाज के सर्वाधिक पिछड़े स्तर को ही सम्बोधित रहा। अन्ततः, स्टालिन ने यह घोषणा तक कर डाली कि बेरोज़गार और असंगठित क्षेत्र ही सर्वाधिक क्रान्तिकारी सामाजिक शक्तियाँ हैं।

सर्वहारा अपेक्षित क्रान्ति नहीं कर पाया; न ही इतिहास की रहस्यात्मक शक्तियों ने अपने को भविष्यवाणी के अनुरूप क्रान्तिकारिता के अनुसार उद्घाटित किया। लेकिन क्रान्ति अर्थात् समाज का आमूल पुनर्निर्माण हमारे समय की आत्यन्तिक ज़रूरत है जिसे सर्वहारा से भी अधिक तीव्रता और सजगता के साथ समाज का एक बड़ा अंश महसूस कर रहा है। नयी व्यवस्था की ललक सभ्यता के मूल्यों के विनाश के आसन्न ख़तरे की प्रतिक्रिया है। स्वाभाविक ही इसे उन लोगों द्वारा अधिक गहराई से महसूस किया जा रहा है जो इन मूल्यों का गुण-विवेचन कर सकते और उन के महत्त्व को समझ सकते हैं। लेकिन सभ्य मानवता के लिए दीपस्तम्भ के रूप में हमारे युग के अनुरूप क्रान्ति के एक नये दर्शन का उदय अभी शेष है। वर्तमान व्यवस्था से असन्तुष्ट सब लोगों को एक नयी समाज व्यवस्था के विचार से प्रेरित करते हुए इस नये दर्शन को यथास्थिति के बचे-खुचे नैतिक अनुमोदन को नष्ट करने के लिए सक्षम होना चाहिए। उसे हमारे समय के लिए प्रासंगिक क्रान्ति के नये रास्तों का संकेत कर सकना चाहिए। जहाँ सामाजिक रूपान्तरण के ठोस क़दम स्थान-स्थान पर परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे, वहीं स्वतन्त्रता के आन्दोलन को सफल होने के लिए अपने कोष्ठबद्ध वर्गचरित्र से ऊपर उठ कर मानववादी भावना और वैश्विक दृष्टिकोण से प्रेरित होना होगा। क्रान्त्युत्तर व्यवस्था को आधार देने के लिए जनता को लोकतान्त्रिक निकायों में संगठित करने की पहल भी उसे करनी होगी।

अब केन्द्रीय सवाल बुर्जुआ बनाम सर्वहारा या पूँजी बनाम श्रम नहीं है; निश्चय ही यह मुद्दा था भी नहीं, यद्यपि यह मुद्दा बनाया गया और अभी भी है, जिस का समाधान किया जाना है। हमारे युग का संघर्ष सर्वसत्तावाद और लोकतन्त्र के बीच है, सर्वभक्षी सामूहिक अहं—राष्ट्र अथवा वर्ग—और स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत व्यक्ति के

बीच। पूँजीवादी व्यवस्था का नैरन्तर्य अब घोषित सिद्धान्त के रूप में नहीं भी तो कम से कम व्यवहार में उदारवाद के स्थान पर फ़ाशीवाद की माँग करता है। दूसरी ओर, साम्यवाद ने भी व्यवहार में एक सर्वसत्तावादी शासन की स्थापना की है जिस के अन्तर्गत जीवन के सभी पक्षों की सख़्त जकड़बन्दी कर दी गयी है। फ़िलहाल, स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का परिदृश्य डेविड और गोलिअथ के बीच पौराणिक संघर्ष जैसा दीख रहा है। लेकिन मनुष्य अपने द्वारा रचित फ्रैंकस्टाइन को नष्ट करेगा और इस लिविआथन को वश में कर लेगा।

छः

एक नया राजनीतिक दर्शन

सभी सवालों का सवाल है : क्या राजनीति का विवेकीकरण सम्भव है? इस विवादास्पद प्रश्न के सकारात्मक उत्तर की दिशा में अधिक दूर जाना सम्भव नहीं होगा यदि विवेकवाद को विवेक की पराभौतिक धारणा से अलग कर के नहीं देखा जा सके। मार्क्सवादी भौतिकवाद की जगह रहस्यात्मक कोटि के विवेक को पुकारने से रंचमात्र लाभ भी नहीं होगा।

एक सजातीय सवाल राजनीति और नैतिकता के सम्बन्ध को लेकर है : क्या क्रान्तिकारी राजनीतिक व्यवहार अनिवार्यतः इस जेसुइट उक्ति से निर्देशित है कि साध्य ही साधनों का औचित्य है। नैतिक माँग—सामाजिक न्याय के लिए माँग—के क्रान्ति का निर्णायक अनुमोदक होने की वजह से परवर्ती प्रश्न का तर्कसम्मत उत्तर निश्चय ही नकारात्मक ही होना चाहिए। एक नैतिक लक्ष्य को अनैतिक उपायों

से हासिल कर पाना सदैव सन्देहपूर्ण ही है। व्यापक मुद्दों के शामिल होने तथा बड़ी चीज़ों के दाँव पर लगे होने के संकट की घड़ियों में कुछ व्यवहारगत विचलन की इजाज़त हो भी सकती है; लेकिन नैतिक सिद्धान्तों और पारम्परिक मानव-मूल्यों के प्रति असंगत व्यवहार के क्रान्तिकारी शासन का स्थायी चरित्र बन जाने पर साधन साध्य को विफल कर देते हैं। इसीलिए साम्यवादी राजनीतिक व्यवहार दुनिया को, श्रमिक वर्ग तक को, स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय की नयी व्यवस्था के कहीं क़रीब नहीं ले जा सका है। इस के विपरीत, उस ने क्रान्ति की सर्वहारा और ग़ैर-सर्वहारा दोनों प्रकार की सेना को एक बौद्धिक सम्भ्रम, आध्यात्मिक अव्यवस्था, भावात्मक विफलता-बोध और सामान्य निरुत्साह में डुबो दिया है।

इस संकट से उबरने के लिए एक नयी विश्व-व्यवस्था के योद्धाओं को मानववाद और नैतिक मौलिकवाद की परम्पराओं की ओर उन्मुख होना होगा। इन स्रोतों से ही क्रान्ति के एक नये दर्शन की प्रेरणा ग्रहण की जानी चाहिए। व्यक्तिवाद के मानववादी सिद्धान्त से प्रेरित उन्नीसवीं शताब्दी के मौलिकवादियों ने एक लौकिक विवेकवाद और विवेकवादी नीतिशास्त्र की सम्भावना देखी थी। उन्होंने भौतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों और पद्धतियों को मनुष्य और समाज के अध्ययन पर लागू किया। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा आज प्रकृति—जीव और जड़—की जानकारी बहुत अधिक हो जाने के कारण मनुष्य के जीवन और अन्तस्सम्बन्धों की समस्याओं के प्रति मौलिक वैज्ञानिक पद्धति अधिक सफल होने को परिबद्ध है। आज हम इस मान्यता के साथ प्रारम्भ कर सकते हैं कि मानव 'प्राक्-इतिहास' के जंगल से निकले लम्बा समय बीत चुका है, कि सामाजिक सम्बन्धों में विवेकसम्मत समन्वय लाया जा सकता है और इसलिए भ्रष्ट और क्षयकारी यथास्थिति को लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता की नयी व्यवस्था से प्रतिस्थापित करने के प्रयासों के साथ नैतिक मूल्यों के अनुभव का मेल हो सकता है। एक नैतिक व्यवस्था विवेकसम्मत ढंग से संगठित समाज का ही सुफल होनी है क्योंकि एक समन्वित भौतिक ब्रह्मांड की पृष्ठभूमि से पैदा होने की वजह से मनुष्य सारतः विवेकशील और इसीलिए नैतिक है। समन्वित और पारस्परिक लाभकारी सामाजिक सम्बन्धों की विवेकसम्मत इच्छा से ही नैतिकता उत्पन्न होती है।

मनुष्य पृथ्वी पर शून्य में से नहीं टपका। जैविक विकास की लम्बी प्रक्रिया के माध्यम से वह भौतिक विश्व की पृष्ठभूमि से विकसित हुआ है। उस की नाल कभी कटी नहीं : अपने मस्तिष्क, बुद्धि और इच्छा के साथ मनुष्य भौतिक ब्रह्मांड का एक अंगभूत हिस्सा बना रहा है।

यह ब्रह्मांड एक सुव्यवस्था है—एक विधि संचालित व्यवस्था। इसलिए मनुष्य का सत्त्व और उस का सम्भवन, उस के भाव, इच्छा, विचार भी तय हैं : मनुष्य सारतः विवेकशील हैं। मनुष्य में विवेक ब्रह्मांड में समन्वय की प्रतिध्वनि है। नैतिकता को

मनुष्य की अन्तर्जात विवेकशीलता के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। केवल तभी मनुष्य सहजता और स्वेच्छा से नैतिक हो सकता है। विवेक उस नैतिकता के लिए एकमात्र आधार है जो अन्तरात्मा को एक निवेदन है और अन्तरात्मा, अपनी बारी में, परिवेश का सहज बोध और उस पर प्रतिक्रिया है। अपने अन्तिम विश्लेषण में अन्तरात्मा किसी भी तरह गुह्य और रहस्यपूर्ण नहीं है। यह एक जैविक क्रिया है, इसलिए चेतना के स्तर पर यान्त्रिक मनुष्य की अन्तर्गत विवेकशीलता उस सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था की एकमात्र ज़ामिन है जो कि एक नैतिक व्यवस्था भी है क्योंकि नैतिकता एक विवेकसम्मत क्रिया है। इसलिए सभी सामाजिक प्रयासों का उद्देश्य मनुष्य को अपनी अन्तर्जात विवेकशीलता के प्रति अधिकाधिक सचेत करते रहना होना चाहिए।

समाज को पुनर्संगठित करने के किसी भी प्रयत्न का आरम्भ समाज की इकाई से होना चाहिए—कहना चाहिए कि उस के मूल से। मानवीय विरासत के सम्पूर्ण भंडार के आधार पर क्रान्ति का नया दर्शन विकसित करने और तदनन्तर राजनीतिक कर्मशीलता और आर्थिक पुनर्निर्माण के व्यवहार के सिद्धान्त का सविस्तार प्रतिपादन तथा नियमों के सूत्रीकरण का ऐसा उद्यम मौलिकवाद कहा जा सकता है।

मौलिकवाद राष्ट्र या वर्ग की पदावली में नहीं सोचता; उस का सरोकार मनुष्य है; स्वतन्त्रता से उस का आशय व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। इसलिए इसे नव मानववाद भी कहा जा सकता है—नया क्योंकि वह आधुनिक सभ्यता की शताब्दियों में प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान और सामाजिक अनुभव से सम्पन्न, पुनर्बलित और संवर्धित मानववाद है।

मानववाद वैश्विक है। वह उस अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के कल्पना लोक के पीछे नहीं भागता जिस के लिए स्वायत्त राष्ट्र-राज्यों की अस्तित्व एक पूर्व शर्त है। एक विश्व या एक विश्व-सरकार का आदर्श राष्ट्र-राज्यों की निरन्तरता की संगति में नहीं है। एक के लिए दूसरा एक पवित्र इच्छा अथवा इच्छित चिन्तन है। स्वतन्त्र पुरुषों-स्त्रियों का एक वैश्विक सर्वकल्याणमंडल एक सम्भावना है। यह पूँजीवादी, फ़ाशी, साम्यवादी या किसी अन्य प्रकार के ऐसे राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से अबाधित आध्यात्मिक समुदाय होगा जो वैश्विक मानववाद के प्रभाव में शनैः शनैः लुप्त होता जायेगा। यही मानवता के भविष्य का मौलिक परिदृश्य है।

सात

मौलिक लोकतन्त्र

आधुनिक मानवता को एक नयी आशा और नया विश्वास देने वाले दर्शन को स्वतन्त्रता की अवधारणा में निश्चय ही कुछ ठोस वस्तु का समावेश करना चाहिए। यदि राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक संगठन की मुक्तिदायी सम्भावना का मूल्यांकन अब भी विभिन्न विचारधारात्मक पूर्वग्रहों, बेमेल मान्यताओं और परस्पर विरोधी मतवादों द्वारा ही किया जाता है तो इतिहास के सब से बड़े इस वर्तमान संकट के हल और मानव-प्रगति को अग्रसर करने के लिए संयुक्त उद्यम की बात अभिलाषित चिन्तन ही रहेगी। स्वतन्त्रता का एक सामान्य प्रतिमान ही ऐसे संयुक्त उद्यम को सम्भव कर सकता है।

स्वतन्त्रता की तलाश को अस्तित्व के लिए मनुष्य के संघर्ष के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। अपनी जैविक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के क्रम में प्रकृति पर मनुष्य

की विजय का कारण वही है। वह ज्ञान की उस अनवरत खोज का आधार है जो उसे प्राकृतिक घटनाक्रम और भौतिक तथा सामाजिक परिवेश के अत्याचार से क्रमशः मुक्त होने में समर्थ बनाता है। स्वतन्त्रता की तलाश एक उच्चतर स्तर—बुद्धि और भावना के स्तर—पर अस्तित्व के लिए जैविक संघर्ष का ही नैरन्तर्य है। आधुनिक समाज में एक व्यक्ति को स्वतन्त्र होने के लिए निश्चय ही न केवल आर्थिक पर्याप्तता और सुरक्षा का अनुभव होना चाहिए बल्कि उसे सांस्कृतिक जकड़बन्दी से मुक्त ऐसे सामाजिक-मनोवैज्ञानिक वातावरण में रहना चाहिए जो उस के बौद्धिक और अन्य मानवीय सामर्थ्य के विकास में सहायक हो सके। समाज के घटक व्यक्तियों द्वारा इस व्यापक अर्थ में स्वतन्त्रता की बढ़ती हुई उपलब्धि ही सामाजिक संगठन के मूल्यांकन की कसौटी होनी चाहिए। प्राचीन उक्ति 'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु की माप है' से निर्देशित होते हुए भविष्य के दर्शन को यह घोषित कर देना चाहिए कि सामाजिक संगठन या राजनीतिक संस्था के किसी भी रूप द्वारा व्यक्ति को प्रदत्त स्वतन्त्रता की वास्तविक मात्रा ही उस के गुणावगुण की कसौटी है।

राष्ट्र हो या वर्ग, कोई भी समष्टि व्यक्तियों से बनती है। समाज मनुष्य द्वारा स्वतन्त्रता की तलाश में की गयी रचना है। सहकारी सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना मूलतः अस्तित्व के लिए उस संघर्ष को पुनर्बलित करने के लिए हुई थी जिसे आदिम मनुष्य ने व्यक्ति के रूप में शुरू किया था। स्वतन्त्रता की तलाश आदिम मनुष्य के अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही जारी रहना है। इस रूप में वह सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति की बुनियादी प्रेरणा है। स्वतन्त्रता मनुष्य के बौद्धिक, नैतिक और सृजनात्मक सामर्थ्य के पल्लवन को बाधित करने वाले भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सभी कारणों का क्रमशः लोप होते जाना है। सामाजिक सम्बन्धों का कार्य व्यक्तियों के लिए, व्यक्तियों के रूप में, अधिकाधिक स्वतन्त्रता सुनिश्चित करना है। अपने सदस्यों द्वारा वास्तव में अनुभूत स्वतन्त्रता का कुल योग किसी भी समाज व्यवस्था के मुक्तिदायी अथवा प्रगतिशील महत्त्व का माप है। अन्यथा, सामाजिक मुक्ति और प्रगति के सारे आदर्श फ़रेब हैं।

यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को एक खोखला अमूर्तन बता कर ख़ारिज कर दिया जाय तो किसी भी राजनीतिक दर्शन या सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना की क्रान्तिकारी सार्थकता अत्यन्त सीमित रहेगी। एक जीवित यथार्थ मनुष्य को अमूर्त सामूहिक अहं का ग़ुलाम बना देने वाली राजनीतिक व्यवस्था या आर्थिक प्रयोग स्वतन्त्रता के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए सम्भवतः अनुकूल साधन नहीं हो सकता। यह तर्क हास्यास्पद है कि स्वतन्त्रता का निषेध ही स्वतन्त्रता की ओर जाने वाला मार्ग है। सम्पूर्ण विवेकसम्मत मानवीय उद्यम का उद्देश्य, चाहे वह सामूहिक हो या व्यक्तिगत, अधिकाधिक मात्रा में स्वतन्त्रता की उपलब्धि है, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के रूप में ही स्वतन्त्रता वास्तविक होती है।

स्वतन्त्रता की नयी दुनिया समाज के आर्थिक पुनर्गठन से स्वतः पैदा नहीं होगी। दलित और शोषित वर्गों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले दल के सत्ता पर अधिकार कर लेने से भी स्वतन्त्रता सहज रूप से पीछे-पीछे नहीं चली आयेगी। व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति, उत्पादन के साधनों पर राज्य-स्वामित्व और नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपने आप में न तो श्रम के शोषण की समाप्ति और न ही सम्पत्ति के समान वितरण की दिशा में ले जाने वाले हैं। तकनीकी, कुशलता और सामूहिक उद्यम का उच्चतम लाभ लेने के तर्कों के आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अवज्ञा से नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपने उद्देश्य को स्वयं ही विफल कर देती है। आर्थिक समता और सामाजिक न्याय के आधार पर लोकतन्त्र के एक उच्चतर रूप का प्रारम्भ करने के बजाय वह एक राजनीतिक अधिनायकत्व की स्थापना कर सकती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में आर्थिक स्वतन्त्रता उस से अधिक सम्भव नहीं है जितनी दूसरी के अभाव में पहली। आर्थिक नियोजन को तावीज़ बना देने वालों को इस तर्क को भी ध्यान में रखना चाहिए।

निर्णायक प्रश्न है : नियोजन क्यों ? यह माना जाता है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था सर्वाधिक लोगों का सर्वाधिक कल्याण करेगी; दूसरे शब्दों में, इस का अर्थ है सम्पत्ति का समान वितरण—सामाजिक न्याय की स्थापना। ऐसे में स्वतन्त्रता के साथ नियोजन का मेल सम्भव होना चाहिए। यदि आधुनिक तकनीकी प्रवृत्तियाँ इस मेलमिलाप को प्रतिबाधित करती हों तो उन्हें मानव-कल्याण के लिए अधिक जवाबदेह बनाये जाने के लिए दबा दिया जाना चाहिए। मशीन को आधुनिक सभ्यता की फ्रैंकस्टाइन नहीं होने दिया जा सकता। मनुष्य द्वारा रचित होने के कारण उसे मनुष्य के उद्देश्य में सहायक उस की स्वतन्त्रता में सहयोगी होना होगा।

सामाजिक विकास के मौलिक मानववादी परिदृश्य में अधिनायकत्व के किसी भी रूप को, चाहे उस के लिए कितना ही रमणीय बहाना हो, स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता के दुलारे आदर्श को जोखिम में डाले बिना राजनीति को नैतिकता से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। यह एक अनुभव-सिद्ध सत्य है कि अनैतिक साधन अनिवार्यतः साध्य को भ्रष्ट कर देते हैं। सोवियत संघ में सर्वहारा का अधिनायकत्व एक स्थायी संस्था बन गया है। साधन साध्य हो गये हैं। राज्य के क्रमिक विलोपन की कोई आशा तक नहीं बची है। यदि सोवियत संघ में समाजवादी समाज की स्थापना हो गयी है तो संक्रमण-काल पूरा हो चुका है और अब अधिनायकत्व का विलोपन हो जाना चाहिए।

लेकिन किसी अन्य दल के अस्तित्व को स्वीकृति मिले बिना अथवा अधिनायकत्व के साथ सर्वहारा के दल का भी विलोपन हुए बिना लोकतन्त्र के एक उच्चतर रूप की स्थापना का दावा निरर्थक होगा।

पश्चिमी लोकतन्त्र का व्यवहार भी इतना ही निराशाजनक है। इसलिए पारम्परिक लोकतान्त्रिक समाजवाद सफलता के विश्वास की कोई प्रेरणा नहीं जगाता। उसे मानववादी परम्परा की ओर लौटना चाहिए। उसे केवल मस्तकों की गिनती तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए—विशेषतया तब जब कि मस्तकों को सम्प्रभु गरिमा के साथ अपने को ऊपर उठाने का अवसर उपलब्ध नहीं हो। औपचारिक संसदवाद को वास्तविक लोकतान्त्रिक व्यवहार द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। किसी भी दल के चरित्र का निर्णय मत प्राप्त करने के उस के सामर्थ्य से नहीं बल्कि उस के घोषित सिद्धान्तों और ज्ञापित कार्यक्रम के गुणावगुण के आधार पर होता है। जनता को घोषणाओं और वादों के लिए नहीं बल्कि एक सरकार के लेखे-जोखे के आकलन के आधार पर मतदान के लिए कहा जाना चाहिए। मस्तकों की गणना हो कर रह जाने वाला लोकतान्त्रिक व्यवहार अन्ततः सामूहिक अहं को श्रद्धांजलि है। उस में न तो व्यक्ति के लिए कोई गुंजाइश है, न ही बुद्धि के लिए। औपचारिक संसदीय प्रणाली में बेईमान जनोत्तेजक लोग ही सदैव शीर्ष पर आ पाते हैं। बुद्धि, निष्ठा, विवेक, नैतिक उत्कृष्टता अनिवार्यतः नगण्य हो जाते हैं। फिर भी, राजनीतिक संगठन और समाज के प्रशासन पर इन मानवमूल्यों के शुद्धिकारी प्रभाव के बिना जीवन के लोकतान्त्रिक मार्ग को नहीं पाया जा सकता।

समकालीन विश्व मानववादी परम्परा के इन मूल्यों के महत्त्व को समझने वाले स्त्रियों-पुरुषों की दृष्टि से निर्धन नहीं है। लेकिन जनोन्माद के प्रति नापसन्दीदगी के कारण वे कभी सार्वजनिक जीवन की पतवार को नहीं थाम सकते। दूसरी ओर, किसी प्रशंसनीय उद्देश्य के लिए स्थापित किये जाने के बावजूद एक अधिनायकवादी शासन ऐसे नागरिकों के उत्थान को निरुत्साहित करता है। इस प्रकार, औपचारिक लोकतन्त्र और अधिनायकवाद के बीच मानवता अपने मामले आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों द्वारा संचालित किये जाने के लाभ से वंचित रहती है और परिणामस्वरूप उस के लिए स्वतन्त्रता के अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना वर्जित हो जाता है।

इस आधार पर अधिनायकत्व की भर्त्सना निरर्थक है कि जकड़बन्दी मानव-मूल्यों के सृजन को बाधित करती है, यदि कथित लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में इन मूल्यों को सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करने की छूट नहीं मिलती। स्वतन्त्रता के लिए छोटे रास्ते के रूप में माने गये अधिनायकत्व से अविचारशील दुनिया को अलग हटाने के लिए लोकतन्त्र को आधुनिक संस्कृति की मानववादी परम्परा को पुनरुपलब्ध करना ही होगा।

मनुष्य को पुनः सभी चीज़ों का माप होना है। बुद्धि, निष्ठा, विवेक, नैतिक उत्कृष्टता ही नेतृत्व की कसौटी होने चाहिए। लोकतन्त्र को पाया हुआ नहीं माना जा सकता।

आज स्वतन्त्रता के सभी विचारशील प्रेमी इस चुनौती भरे सवाल से क्षुब्ध हैं : क्या लोकतन्त्र सम्भव है? अधिनायकत्व को ख़ारिज करने में सही होने के बावजूद लोकतान्त्रिक समाजवाद के हिमायती हमारे समय के इस सवाल का सन्तोषजनक उत्तर देने में अभी तक विफल रहे हैं। बुनियादी लोकतान्त्रिक सिद्धान्त—अधिकतम का अधिकतम कल्याण—को तभी चरितार्थ किया जा सकता है जब सार्वजनिक मामलों का संचालन आध्यात्मिक रूप से स्वतन्त्र ऐसे व्यक्तियों के हाथों में हो जो अन्य किसी भी व्यक्ति या वस्तु से पहले अपनी अन्तरात्मा के प्रति उत्तरदायी हों।

नैतिक अनुमोदन अन्ततः सब से बड़ा अनुमोदन है। संसदीय लोकतन्त्र का वास्तविक ज़ामिन क़ानून नहीं बल्कि सत्तासीन बहुमत का नैतिक अन्तःकरण है। अन्ततः, अधिनायकत्व भी एक नैतिक अनुमोदन पर निर्भर करता है, वह एक साध्य का साधन होने का दावा करता है। लेकिन सत्ता के लोभ के विरुद्ध सामूहिक नैतिकता एक सन्देहास्पद ज़ामिन है। मूल्य व्यक्तियों के माध्यम से चरितार्थ होते हैं। इसलिए, अधिकतम संख्या के अधिकतम कल्याण के लिए अपने-अपने अन्तःकरण के प्रति उतरदायी आध्यात्मिक स्वतन्त्र ब्यक्तियों द्वारा गठित सरकार ही एकमात्र सम्भव ज़ामिन है? वर्तमान संकट से उबरने तथा अधिनायकत्व के प्रबल आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए लोकतन्त्र को ऐसे ही दार्शनिक पुनर्विन्यास की आवश्यकता है।

इस सुझाव का तात्पर्य किसी 'प्रबुद्ध अभिजन' का शासन नहीं बल्कि समाज का ऐसा संगठन है जो मनुष्य की सृजनात्मक प्रतिभा को पल्लवित होने का असीम अवकाश उपलब्ध करवाने के लिए राज्य की कार्यपालिका शक्ति को ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों के नियन्त्रण में रख सके जो न्यस्त स्वार्थों के प्रभाव के साथ-साथ जनोन्मादक आकर्षण से अतिप्रभावित सामूहिक अहं की सनकों से भी स्वतन्त्र हों। लोकतान्त्रिक व्यवहार को सावधिक चुनावों तक सीमित नहीं रखना चाहिए। सार्वभौमिक मताधिकार पर आधारित चुनाव और निर्वाचित कार्यपालिका के बावजूद लोकतन्त्र मात्र औपचारिकता बना रहेगा। सत्ता का अल्पावधि के लिए हस्तान्तरण भी लोकतन्त्र को निष्प्रभावी कर देता है। जनता के लिए सरकार कभी भी पूर्णतया जनता की और जनता द्वारा सरकार नहीं हो सकती।

संगठित स्थानीय लोकतन्त्रों के आधार पर निर्मित राज्य की पिरामिडाकार संरचना में ही सरकार में जनता की सहभागिता हो सकती है। संगठित स्थानीय लोकतन्त्रों का प्राथमिक कार्य व्यक्ति नागरिकों को अपने सम्प्रभु अधिकारों के प्रति पूर्ण जागरूक करना तथा अपने अधिकार का शुद्ध अन्तःकरण से बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग करने में समर्थ बनाना है।

सम्पूर्ण समाज के समान, लोकतान्त्रिक राज्य का व्यापक आधार एक प्रकार की राजनीतिक शालाओं के एक तन्त्र पर निर्मित होगा। जनमत-संग्रह और वापस बुलाने

का अधिकार संगठित स्थानीय लोकतन्त्रों को राज्यतन्त्र पर प्रत्यक्ष और प्रभावी नियन्त्रण रखने में समर्थ बना देगा। निर्वाचन के लिए उम्मीदवारों को मनोनीत करने का अधिकार केवल उन्हें ही होगा। लोकतन्त्र को दलों के ऊपर रखा जायेगा। व्यक्तियों को उन के गुणों के आधार पर मान्यता मिलने के अवसर प्राप्त होंगे। दलीय वफ़ादारी और दलीय संरक्षण या भाई-भतीजावाद के अन्य प्रकार बौद्धिक स्वतन्त्रता, नैतिक निष्ठा और अनासक्त बुद्धि को ग्रस नहीं सकेंगे।

दूसरे शब्दों में, यह सुझाव लोकतन्त्र को सम्भव कर सकने वाली परिस्थितियों की रचना के लिए है। सर्वप्रथम, जनता में स्वतन्त्रता की ललक, अपने पर निर्भरता तथा अपनी नियति का रचयिता होने की आकांक्षा, स्वतन्त्र चिन्तन की भावना और पराधीनता की सुरक्षा के बदले किसी भी बाह्य सत्ता के सम्मुख आत्म-समर्पण न करने के निश्चय को प्रेरित करने के लिए सजग एवं समन्वित उद्यम की आवश्यकता है। लोकतन्त्र की सिद्धि तथा उस के अपनी रक्षा में समर्थ होने के लिए विवेकवाद, व्यक्तिवाद एवं वैश्विक मानववाद पर आधारित एक नया पुनर्जागरण अत्यावश्यक है।

ऐसा वातावरण मानव-मूल्यों की विजय के लिए समर्पित बौद्धिक स्वातन्त्र्य को पोषण देगा। केवल नैतिक उत्कृष्टता ही राष्ट्र अथवा वर्ग के सामूहिक अहं की वेदी पर व्यक्ति की बलि चढ़ाये विना एक समुदाय को बाँधे रख सकती है। इस महान् गुण से विभूषित स्त्री-पुरुषों को ही प्रबुद्ध जनता द्वारा सम्मान तथा समाज के नेताओं के रूप में मान्यता मिलती है। जनोत्तेजक राजनीति के भाव बहुत नीचे चले जायेंगे। लोकतान्त्रिक व्यवहार सावधिक चुनावों में नहीं घटाया जायेगा। जनता केवल भीड़ नहीं होगी।

स्थिति का नियन्त्रक हो सकने में पुनर्गठित लोकतन्त्र को कुछ समय लगेगा। संक्रान्ति काल में, राज्य में उच्च पदस्थ सृजनात्मक प्रतिभा, बौद्धिक अनासक्ति तथा नैतिक निष्ठा के कार्यपालिका शक्ति के संचालन में परामर्श, निर्देश और प्रभाव के लिए एक लोकतान्त्रिक संविधान की ज़रूरत होगी। संक्रान्ति काल में लोकतन्त्र को निर्वाचनात्मक होने के साथ-साथ चयनात्मक भी होना होगा। समग्र समुदाय के बौद्धिक और नैतिक स्तर के ऊपर उठे बिना केवल चुनाव उसके श्रेष्ठ तत्वों को आगे नहीं ला सकता तथा उपलब्ध बौद्धिक अनासक्ति एवं बौद्धिक निष्ठा के स्थिति पर प्रभावी हुए बिना लोकतन्त्र अपने वास्तविक स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकता। संक्रान्ति काल में अवशिष्ट शक्तियाँ विज्ञान, बौद्धिकता, निष्ठा, विवेक और नैतिक उत्कृष्टता वाले ऐसे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली राज्य-परिषद् में निहित होनी चाहिए जो सामान्यतः राजनीति के धक्कमधक्के से अलग रहने के कारण पेशेवर राजनीतिज्ञों में नहीं मिलते हों। समाज का नेता हो सकने के सर्वाधिक योग्य लोगों की मूल्यवान सेवाओं को निम्न प्रकार से सूचीबद्ध किया जा सकता है :

इंजीनियरों, अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, चिकित्साविज्ञानियों, विधिशास्त्रियों, इतिहासकारों तथा बौद्धिक, साहित्यिक, कलात्मक एवं अन्य सृजनात्मक कर्म-क्षेत्रों में लगे लोगों का प्रत्येक पेशेवर समूह राज्यपरिषद् की सदस्यता के लिए निर्धारित संख्या में सिफ़ारिश करेगा। उन की नामज़दगी राज्य के अध्यक्ष द्वारा होगी जिसे किसी भी समूह से औपचारिक स्तर पर न जुड़े किन्तु समान योग्यता वाले अन्य व्यक्तियों को नामज़द करने का विशेषाधिकार भी होगा। न्यस्त स्वार्थों के किसी भी सम्भव नियन्त्रण के निवारण के लिए लाभ कमाने वाले संगठनों से वेतनभोगी कर्मचारियों को छोड़कर अन्य प्रकार से जुड़े लोगों को राज्यपरिषद् की सदस्यता के लिए उपयुक्त नहीं माना जायेगा। समाज के विकास की सभी शाखाओं (आर्थिक, स्वास्थ्य, शिक्षा, संस्कृति) के नियोजन तथा योजनाओं के निर्देशन एवं पर्यवेक्षण की शक्ति राज्यपरिषद् में निहित होगी। शुरूआत के तौर पर, समाज के आर्थिक जीवन को न्यस्त स्वार्थों के पक्षाघातकारी और भ्रष्ट नियन्त्रण से क्रमशः मुक्त करवाना होगा। इस के परिणामस्वरूप बौद्धिक स्वतन्त्रता बड़ी संख्या में लोगों की पहुँच में होगी। दूसरे, ऐसे लोगों को सार्वजनिक कल्याण के सर्वाधिक विश्वसनीय अभिभावक मानना एवं उन्हें इस रूप में काम करने के अवसर देने होंगे। यदि लोकतन्त्र के वयस्क होने से पहले उन के आभ्यन्तरिक प्रतिनिधि चरित्र को मस्तकों की संख्या के आधार पर मापा जायेगा तो समाज अपने को उपलब्ध उस श्रेष्ठ नेतृत्व से वंचित रह जायेगा जो उसे सच्ची लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता की ओर ले जा सकता है।

मौलिकवाद मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की सम्भावना को समाप्त करने के लिए समाज के आर्थिक पुनर्संगठन की पूर्वकल्पना करता है। समाज के व्यक्ति सदस्यों के बौद्धिक तथा अन्य सूक्ष्म गुणों के पल्लवन के लिए भौतिक साधनों की बढ़ती हुई सन्तुष्टि एक पूर्वशर्त है। जीवन-स्तर के बढ़ते जाने के लिए प्रतिश्रुत आर्थिक पुनर्संगठन मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य की नींव होगा।

नयी समाज व्यवस्था की अर्थनीति मानवीय आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उपयोग एवं वितरण के लिए उत्पादन पर आधारित होगी। उस के राजनीतिक संगठन में सत्ता के उस हस्तान्तरण के लिए कोई स्थान नहीं होगा जो व्यवहार में जनता को सत्ता से वंचित कर देता है। वह जनसमितियों के माध्यम से सम्पूर्ण वयस्क जनसंख्या की प्रत्यक्ष सहभागिता पर आधारित होगा। उस की संस्कृति ज्ञान के सार्वभौमिक विस्तार तथा वैज्ञानिक एवं अन्य सर्जनात्मक गतिशीलताओं के प्रोत्साहन पर आधारित होगी। विवेक और ज्ञान पर आधारित होने के कारण नया समाज अनिवार्यतः नियोजित होगा। लेकिन यह नियोजन व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मुख्य लक्ष्य मान कर किया जायेगा। नया समाज राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर लोकतान्त्रिक होगा। वह अपने रक्षण में पूर्ण समर्थ लोकतन्त्र होगा।

मौलिक लोकतन्त्र का आदर्श स्वतन्त्रता की एक नयी व्यवस्था की रचना करने के लिए कटिबद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र पुरुषों और स्त्रियों के सामूहिक प्रयासों से उपलब्ध होगा। वे जनता के भावी शासकों की तरह नहीं बल्कि उस के मित्र, पथ-प्रदर्शक और दार्शनिक की तरह काम करेंगे। उन का राजनीतिक आचरण स्वतन्त्रता के लक्ष्य के समानुरूप विवेकसम्मत और नैतिक होगा। स्वतन्त्रता के लिए जन-आकांक्षा का विस्तार उनके प्रयासों को पुनर्बलित करेगा। अन्ततः, मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य प्रबुद्ध जनमत के समर्थन के साथ-साथ जनता के बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों से उदय होगा। यह समझते हुए कि स्वतन्त्रता सत्ता के केन्द्रीकरण से असंगत है, मौलिक मानववादी सत्ता पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। वे लोकतन्त्र को ऐसी जनसमितियों में संगठित करने में सहायता देंगे जो अन्ततः लोकतान्त्रिक सत्ता के उपकरण बनेंगी। इस प्रकार, सम्पूर्ण समाज के साथ एकसीम होने के कारण राज्य दमन का उपकरण नहीं रह सकेगा। अन्ततः लोकतन्त्र—जनता की और जनता द्वारा सरकार—सम्भव हो सकेगा।

अन्तिम विश्लेषण में, नागरिक का शिक्षण ही समाज के ऐसे पुनर्संगठन के लिए आवश्यक शर्त है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण किये बिना सब की प्रगति और समृद्धि में सहायक हो। जनसमितियाँ नागरिकों के राजनीतिक और नागरिक शिक्षण के लिए शाला का काम करेंगी। मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य की संरचना और कार्य अनासक्त व्यक्तियों को सार्वजनिक जीवन की अग्रिम पंक्ति में आने में सक्षम बनायेंगे। ऐसे व्यक्तियों से बना हुआ राज्य सदैव भयंकर और अविश्वसनीय लिविआथन नहीं हो सकेगा।

एक क्रान्तिकारी और मुक्तिदायी सामाजिक दर्शन का काम इतिहास के इस बुनियादी तथ्य पर बल देना है कि अपनी दुनिया का निर्माता स्वयं मनुष्य ही है—एक विचारशील प्राणी के रूप में मनुष्य, और ऐसा वह एक व्यक्ति की हैसियत में ही हो सकता है। मस्तिष्क उत्पादन का साधन है और वह सर्वाधिक क्रान्तिकारी वस्तु का उत्पादन करता है। क्रान्तियाँ रूढ़िभंजक विचारों की पूर्वकल्पना करती हैं। अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रति सचेत, दुनिया के पुनर्निर्माण की अदम्य कामना से प्रेरित, विचारों की साहसिकता से संचालित और स्वतन्त्र मनुष्यों के स्वतन्त्र समाज के आदर्श से उत्साहित लोगों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या ऐसी परिस्थितियों का सृजन कर सकती है जिन में लोकतन्त्र सम्भव हो सके। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का नेतृत्व दासता की सभी जंजीरों को तोड़ डालेगा और सभी के लिए स्वतन्त्रता का समारम्भ हो सकेगा।

टिप्पणी

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में प्रकाशित 'नव मानववाद के घोषणापत्र' में निम्नोद्धृत अन्तिम तीन पैरा इस प्रकार थे : मौलिक मानववाद का आदर्श स्वतन्त्रता की एक

नयी व्यवस्था की रचना के लिए प्रतिबद्ध एक राजनीतिक दल में संगठित आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र पुरुषों और स्त्रियों के सामूहिक प्रयासों से हासिल किया जायेगा। दल के सदस्य जनता के भावी शासकों की तरह नहीं बल्कि उस के पथ-प्रदर्शकों, मित्रों और दार्शनिकों की तरह काम करेंगे। स्वतन्त्रता के लक्ष्य की संगति में दल का राजनीतिक व्यवहार विवेकशील और नैतिक होगा, जनता की स्वतन्त्रता की आकांक्षा के साथ-साथ दल विकसित होगा और प्रबुद्ध जनमत के समर्थन के साथ-साथ जनता बुद्धिमत्तापूर्ण सक्रियता के माध्यम से मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना में सहायता करेगी। यह समझते हुए कि स्वतन्त्रता सत्ता के केन्द्रीकरण से असंगत है, दल सत्ता पर अधिकार करने की कोशिश नहीं करेगा। वह लोकतन्त्र को ऐसी जन-समितियों में संगठित करने में सहायता देगा जो अन्ततः लोकतान्त्रिक सत्ता के घटक बनेंगी। इस प्रकार, सम्पूर्ण समाज के साथ एकसीम होने के कारण राज्य दमन का उपकरण नहीं रह सकेगा। अन्ततः, लोकतन्त्र—जनता की और जनता द्वारा सरकार—सम्भव हो सकेगा।

अन्तिम विश्लेषण में, नागरिक का शिक्षण ही समाज के ऐसे पुनर्संगठन के लिए आवश्यक शर्त है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण किये बिना सब की प्रगति और समृद्धि में सहायक हो। मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य शहरियों के नागरिक और राजनीतिक शिक्षण के लिए शाला का काम करेगा। इसकी संरचना और कार्यप्रणाली अनासक्त व्यक्तियों को सार्वजनिक जीवन के अग्रिम मोर्चे पर आने के लिए सक्षम बनायेगी। ऐसे व्यक्तियों से बना होने के कारण राज्य सदा के लिए भयंकर और अविश्वसनीय लिविआथन नहीं हो सकेगा।

एक क्रान्तिकारी और मुक्तिदायी सामाजिक दर्शन का काम इतिहास के इस बुनियादी तथ्य पर बल देना है कि अपनी दुनिया का निर्माता मनुष्य स्वयं है—एक विचारशील प्राणी के रूप में मनुष्य, और ऐसा वह एक व्यक्ति की हैसियत में ही हो सकता है। मस्तिष्क उत्पादन का साधन है और सर्वाधिक क्रान्तिकारी वस्तु का उत्पादन करता है। क्रान्तियाँ रूढ़िभंजक विचारों की पूर्वकल्पना करती हैं। अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रति सजग, विश्व के पुनर्निर्माण की अदम्य कामना से प्रेरित, विचारों की साहसिकता से संचालित और स्वतन्त्र मनुष्यों के स्वतन्त्र समाज के आदर्श से उत्साहित लोगों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर सकती है जिन में लोकतन्त्र सम्भव हो सके। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का सत्तारूढ़ होना सभी जंजीरों को तोड़ डालेगा और सब के लिए स्वतन्त्रता का समारम्भ हो सकेगा।

परिशिष्ट

मौलिक मानववाद के सिद्धान्त-सूत्र

एक

मनुष्य समाज का आद्यरूप है। सहकारी सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति की सम्भावनाओं के विकास में सहयोगी होते हैं। लेकिन सामाजिक प्रगति का प्रतिमान व्यक्ति का विकास ही है। सामूहिकता व्यक्तियों के अस्तित्व को पूर्वमान्य करती है। व्यक्तियों द्वारा भोग्य स्वतन्त्रता और कल्याण के कुल योग के विना सामाजिक स्वतन्त्रता और प्रगति कभी न पाये जा सकने वाले काल्पनिक आदर्श हैं। वास्तविक कल्याण व्यक्तियों द्वारा भोग्य है। मानव-समुदाय के किसी भी रूप (राष्ट्र, वर्ग आदि) पर सामूहिक अहं का आरोपण अनुचित है क्योंकि ऐसे आचरण का अर्थ व्यक्ति की बलि देना है। सामूहिक कल्याण व्यक्तियों के कल्याण का ही फलन है।

दो

स्वतन्त्रता की तलाश और सत्य का अन्वेषण मानव-प्रगति की बुनियादी आकांक्षा के कारक हैं। स्वतन्त्रता की तलाश बुद्धि और भावना के उच्च स्तर पर अस्तित्व के लिए जैविक संघर्ष का ही नैरन्तर्य है। सत्य का अन्वेषण इसी का उपसाध्य है। प्रकृति के बारे में बढ़ता हुआ ज्ञान मनुष्य को प्राकृतिक घटना-क्रम तथा भौतिक और सामाजिक परिवेश के अत्याचार से अपने को मुक्त कर सकने में सक्षम बनाता है। सत्य ज्ञान की अन्तर्वस्तु है।

तीन

समस्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक विवेकशील मानवीय उद्यम का उद्देश्य निरन्तर बढ़ती जाती मात्रा में स्वतन्त्रता की उपलब्धि है। स्वतन्त्रता का अर्थ एक यान्त्रिक सामाजिक संगठन के पहियों के दाँतों के रूप में नहीं बल्कि मानव-प्राणियों के रूप में व्यक्तियों की सम्भावनाओं के पल्लवन पर लगे प्रतिबन्धों का लगातार विलोपन है। इसलिए व्यक्ति की स्थिति ही किसी भी सामूहिक प्रयास अथवा सामाजिक संगठन के प्रगतिशील और मुक्तिदायी महत्त्व की कसौटी है। किसी भी सामूहिक प्रयास की सफलता उस की घटक इकाइयों के वास्तविक लाभ से ही मापी जा सकती है।

चार

नियमशासित भौतिक प्रकृति की पृष्ठभूमि से उत्पन्न होने के कारण मानव-प्राणी सारतः विवेकशील है। एक जैविक धर्म होने के कारण विवेक इच्छा का प्रतिवाद नहीं हो जाता। बुद्धि और भावना को एक समान जैविक कोटि में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसलिए ऐतिहासिक नियतिवाद इच्छा-स्वातन्त्र्य का बहिष्कार नहीं करता। वस्तुतः, मानवीय इच्छा ही सर्वाधिक शक्तिशाली निर्धारक कारक है। अन्यथा, इतिहास की एक विवेकसम्मत नियत प्रक्रिया में क्रान्तियों के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। नियतिवाद की विवेकसम्मत और वैज्ञानिक अवधारणा को भाग्यवाद की सप्रयोजनवादी अथवा धार्मिक मान्यता समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

पाँच

इतिहास की आर्थिक व्याख्या भौतिकवाद की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या का परिणाम है। उस में द्वैतवाद अन्तर्निहित है जबकि भौतिकवाद एकत्ववादी दर्शन है। इतिहास एक नियत प्रक्रिया है; लेकिन इस के कारक घटक एकाधिक हैं। मानवीय इच्छा उन में से एक है और उसे सदैव किसी आर्थिक प्रोत्साहन के सीधे सन्दर्भ से नहीं जोड़ा जा सकता।

छः

विचारण परिवेश के बोध से उत्पन्न एक शरीरवैज्ञानिक प्रक्रिया है। लेकिन एक बार रूपधारण के बाद विचार अपने ही आधार पर अस्तित्वमान रहते तथा अपने ही नियमों से संचालित होते हैं। विचारों की गतिकी सामाजिक विकास के समान्तर चलती और परस्पर-प्रभावी होती है। लेकिन समेकित मानव विकास की प्रक्रिया के किसी भी बिन्दु पर ऐतिहासिक घटनाओं और विचारों की गतिविधि में प्रत्यक्ष कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। (यहाँ 'विचार' से आशय सामान्य दार्शनिक विचारधारा अथवा विचार-पद्धति से है।) सांस्कृतिक प्रतिरूप और नैतिक मूल्य स्थापित आर्थिक सम्बन्धों की विचारधारात्मक अधिरचनाएँ मात्र नहीं हैं। वे ऐतिहासिक प्रक्रिया में—विचारों के इतिहास के तर्क से—निर्धारित हैं।

सात

स्वतन्त्रता की एक नयी दुनिया की रचना के लिए क्रान्ति को समाज के आर्थिक पुनर्संगठन से ऊपर उठना चाहिए। स्वतन्त्रता दलित और शोषित वर्गों के नाम पर सत्ता के अधिग्रहण और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की समाप्ति का अनिवार्य परिणाम नहीं है।

आठ

साम्यवाद या समाजवाद की कल्पना स्वतन्त्रता के लक्ष्य की उपलब्धि के साधन के रूप में की जा सकती है। उस प्रयोजन को वे कितना पूरा कर सकते हैं, इस का निर्णय अनुभव से करना चाहिए। एक यथार्थ मनुष्य को किसी सामूहिक अहं—वह चाहे राष्ट्र हो या वर्ग—का दास बना देने वाली राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक प्रयोग शायद स्वतन्त्रता के लक्ष्य की उपलब्धि के उचित साधन नहीं हो सकते। एक ओर, यह तर्क हास्यास्पद है कि स्वतन्त्रता का निषेध स्वतन्त्रता का मार्ग है; तो दूसरी ओर, एक काल्पनिक सामूहिक अहं की वेदी पर व्यक्ति की बलि चढ़ा देना भी स्वतन्त्रता नहीं है। व्यक्ति की सम्प्रभुता को मान्यता न देने वाले तथा स्वतन्त्रता के आदर्श को एक खोखली कल्पना की तरह खारिज करने वाले सामाजिक दर्शन या सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना की प्रगतिशील और क्रान्तिकारी सार्थकता नगण्य ही हो सकती है।

नौ

समाज का राजनीतिक संगठन होने के कारण राज्य का साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत क्रमशः विलोपन एक आदर्श-लोक है जिसे अनुभव ने ध्वस्त कर दिया है।

समाजीकृत उद्योगों के आधार पर नियोजित अर्थव्यवस्था के लिए शक्तिशाली राजनीतिक तन्त्र एक पूर्व-आवश्यकता है। नयी व्यवस्था में इस तन्त्र पर लोकतान्त्रिक नियन्त्रण ही स्वतन्त्रता का ज़िम्मा ले सकता है। उपयोग के लिए उत्पादन का नियोजन राजनीतिक लोकतन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है।

दस

राज्य-स्वामित्व और नियोजित अर्थव्यवस्था स्वयमेव श्रम के शोषण को समाप्त नहीं करते; न वे अनिवार्यतः सम्पत्ति के समान वितरण की ओर ही ले जाते हैं। आर्थिक लोकतन्त्र राजनीतिक लोकतन्त्र के बिना उस से अधिक सम्भव नहीं है जितना पहले के बिना दूसरा।

ग्यारह

अधिनायकत्व में अपने स्थायीकरण की प्रवृत्ति होती है। राजनीतिक अधिनायकत्व के अन्तर्गत नियोजित अर्थ-व्यवस्था कुशलता, सामूहिक प्रयास और सामाजिक प्रगति के नाम पर व्यक्ति स्वातन्त्र्य की उपेक्षा करती है। परिणामस्वरूप, वर्तमान में कल्पित समाजवादी समाज में लोकतन्त्र का उच्चतर स्तर एक असम्भाव्यता बन जाता है। अधिनायकत्व अपने ही घोषित उद्देश्य को विफल कर देता है।

बारह

औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र के दोष भी अनुभव में उजागर हो गये हैं। वे सत्ता के हस्तान्तरण के परिणाम हैं। लोकतन्त्र को प्रभावी बनाने के लिए सत्ता सदैव जनता में निहित होनी होगी और जनता द्वारा उस सत्ता के कभी-कभी नहीं बल्कि दैनन्दिन प्रभावी संचालन के लिए तरीके और साधन होने चाहिए। अलग-थलग पड़े व्यक्ति नागरिक सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए अधिकांश समय शक्तिहीन होते हैं। उन के पास अपनी सम्प्रभुता का उपयोग करने और राज्यतन्त्र पर स्थायी नियन्त्रण रखने के साधन नहीं होते।

तेरह

औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत उदारवाद को झूठा और विद्रूप कर दिया जाता है। मुक्त अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को वैधिक अनुमोदन मात्र प्रदान करता है। आर्थिक मनुष्य की अवधारणा मुक्तिदायी व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का निषेध करती है। आर्थिक मनुष्य दास या दासस्वामी होने को बाध्य है। इस भ्रष्ट कल्पना को उस सहज विवेकशील प्राणी के यथार्थ से प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए जो विवेकशील होने के कारण नैतिक है। नैतिकता अन्तःकरण

को सम्बोधित है और अन्तःकरण परिवेश का सहज बोध और उस से प्रतिक्रिया है। चेतना के स्तर पर वह एक यान्त्रिक जैविक कार्य है। इसलिए वह विवेकशील है।

चौदह

संसदीय लोकतन्त्र का विकल्प अधिनायकत्व नहीं है : शक्तिहीन बिखरे हुए व्यक्ति नागरिकों के औपचारिक लोकतन्त्र के स्थान पर संगठित लोकतन्त्र ही विकल्प है। संसद देशव्यापी जनसमितियों के तन्त्र के आधार पर निर्मित राज्य की पिरामिडाकार संरचना का शीर्ष होनी चाहिए। समाज का राजनीतिक संगठन (राज्य) सम्पूर्ण समाज का सहयात्री होगा, और फलस्वरूप, राज्य एक स्थायी लोकतान्त्रिक नियन्त्रण में रहेगा।

पन्द्रह

एक क्रान्तिकारी और मुक्तिदायी सामाजिक दर्शन का काम इतिहास के इस बुनियादी तथ्य पर बल देना है कि अपनी दुनिया का निर्माता मनुष्य स्वयं ही है—एक विचारशील प्राणी के रूप में मनुष्य, और ऐसा वह एक व्यक्ति की हैसियत में ही हो सकता है। मस्तिष्क उत्पादन का साधन है और सर्वाधिक क्रान्तिकारी वस्तु का उत्पादन करता है। क्रान्तियाँ रूढ़िभंजक विचारों की पूर्वकल्पना करती हैं। अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रति सजग, संसार के पुनर्निर्माण की अदम्य कामना से प्रेरित, विचारों की साहसिकता से संचालित और स्वतन्त्र मनुष्यों के स्वतन्त्र समाज के आदर्श से उत्साहित लोगों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या ऐसी परिस्थितियों का सृजन कर सकती हैं जिन में लोकतन्त्र सम्भव हो सके।

सोलह

सामाजिक क्रान्ति की पद्धति और कार्यक्रम सामाजिक प्रगति के बुनियादी सिद्धान्त के पुनराग्रह पर आधारित होने होंगे। सामाजिक पुनर्जागरण जनता में स्वतन्त्रता और विवेकशील सहकारी जीवन के सिद्धान्तों की शिक्षा देने के दृढ़-निश्चयी तथा व्यापक प्रयास के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। क्रान्त्युत्तर व्यवस्था की सामाजिक-राजनीतिक नींव का निर्माण करने के लिए जनता को प्रभावी लोकतान्त्रिक निकायों में संगठित होना होगा। सामाजिक क्रान्ति को नये पुनर्जागरण के व्यक्तियों की तेजी से बढ़ती संख्या, और जन समितियों की तेजी से विस्तृत होती व्यवस्था, तथा इन दोनों के सावयविक समन्वय की आवश्यकता है। क्रान्ति का कार्यक्रम स्वतन्त्रता, विवेक और सामाजिक समरसता के सिद्धान्तों पर समान रूप से आधारित होगा। इस का अर्थ होगा सामाजिक जीवन के नियमन में एकाधिकार और न्यस्त स्वार्थों के प्रत्येक रूप का विलोपन।

सत्रह

मौलिक मानववाद मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की सम्भावना का विलोपन करने के लिए समाज के आर्थिक पुनर्संगठन की पूर्वकल्पना करता है। समाज के व्यक्ति सदस्यों के बौद्धिक एवं अन्य सूक्ष्म गुणों के पल्लवन के लिए भौतिक साधनों की बढ़ती हुई सन्तुष्टि एक पूर्वशर्त है। जीवन-स्तर के बढ़ते जाने के लिए प्रतिश्रुत आर्थिक पुनर्संगठन मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य की नींव होगा। जनता की आर्थिक मुक्ति स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर उन के अग्रसर होने की अनिवार्य शर्त है।

अठारह

नये समाज की अर्थव्यवस्था मानवीय आवश्यकताओं के सन्दर्भ में उपयोग एवं वितरण के लिए उत्पादन पर आधारित होगी। उस के राजनीतिक संगठन में सत्ता के हस्तान्तरण के लिए कोई स्थान नहीं होगा जो व्यवहार में जनता को सत्ता से वंचित कर देता है। वह जनसमितियों के माध्यम से सम्पूर्ण वयस्क जनसंख्या की प्रत्यक्ष सहभागिता पर आधारित होगा। उस की संस्कृति ज्ञान के सार्वभौमिक विस्तार तथा वैज्ञानिक एवं सृजनात्मक गतिशीलताओं पर न्यूनतम नियन्त्रण और अधिकतम अवकाश व प्रोत्साहन पर आधारित होगी। विवेक और विज्ञान पर आधारित होने के कारण नया समाज अनिवार्यतः नियोजित होगा। लेकिन यह नियोजन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को मुख्य लक्ष्य मान कर किया जायेगा। नया समाज राजनीतिक एवं आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक स्तर पर भी लोकतान्त्रिक होगा। वह अपने रक्षण में पूर्ण समर्थ लोकतन्त्र होगा।

उन्नीस

मौलिक लोकतन्त्र का आदर्श स्वतन्त्रता का एक नया संसार रचने के दृढ़-निश्चय से संगठित आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र मनुष्यों के सामूहिक प्रयास से उपलब्ध होगा। वे जनता के भावी शासकों की भाँति नहीं बल्कि उस के मित्र, पथ-प्रदर्शक और दार्शनिक की तरह काम करेंगे। उन का राजनीतिक आचरण स्वतन्त्रता के लक्ष्य के समनुरूप विवेकसम्मत और नैतिक होगा। स्वतन्त्रता के लिए जन-आकांक्षा का विस्तार उन के प्रयासों को पुनर्बलित करेगा। अन्ततः, मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य प्रबुद्ध जनमत के समर्थन के साथ-साथ जनता के बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यों से उदित होगा। स्वतन्त्रता और सत्ता के केन्द्रीकरण की पारस्परिक असंगति को समझते हुए मौलिक मानववादी सत्ता पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

बीस

अन्ततः, नागरिक का शिक्षण ही समाज के ऐसे पुनर्संगठन के लिए आवश्यक शर्त है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण किये बिना सब की प्रगति और समृद्धि में

सहायक हो। जनसमितियाँ नागरिकों के राजनीतिक और नागरिक शिक्षण के लिए शाला की भूमिका निभायेंगी। मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य की संरचना और कार्य अनासक्त व्यक्तियों को सार्वजनिक जीवन की अग्रिम पंक्ति में आने में सक्षम बनायेंगे। ऐसे व्यक्तियों से बना हुआ राज्य किसी भी विशेष वर्ग के हाथों में दमन का हथियार बना नहीं रह पायेगा। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का सत्तारूढ़ होना दासता की सभी जंजीरों को तोड़ सकता और सभी के लिए स्वतन्त्रता का समारम्भ कर सकता है।

इक्कीस

मौलिकवाद सामाजिक संगठन में विज्ञान को समेकित करता और वैयक्तिकता का सामूहिक जीवन से मेल करता है; यह स्वतन्त्रता को नैतिक-बौद्धिक के साथ-साथ सामाजिक अन्तर्वस्तु देता है; वह सामाजिक प्रगति के एक व्यापक सिद्धान्त का प्रस्ताव करता है जिस में आर्थिक नियतिवाद की द्वन्द्वात्मकता और विचारों की गतिशीलता दोनों को उन की उचित मान्यता मिल जाती है; और वह उसी से एक पद्धति और हमारे समय में सामाजिक विकास का एक कार्यक्रम प्राप्त करता है।

बाईस

मौलिकवाद 'मनुष्य सभी वस्तुओं की माप है' (प्रोटेगोरस) या 'मनुष्य मानवता का मूल है' (मार्क्स) उक्ति से प्रारम्भ करता और आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त नैतिक मनुष्यों के सामूहिक उद्यम से इस दुनिया की पुनर्रचना स्वतन्त्र व्यक्तियों के एक कल्याणमंडल (कॉमनवैल्थ) तथा बन्धुत्व के रूप में करना चाहता है।

टिप्पणी

प्रथम संस्करण में प्रकाशित मूल आलेख में सूत्र उन्नीस एवं बीस निम्न प्रकार से प्रकाशित थे :

मौलिक मानववाद का आदर्श स्वतन्त्रता की एक नयी व्यवस्था की रचना के लिए प्रतिबद्ध एक राजनीतिक दल में संगठित आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र मनुष्यों के सामूहिक प्रयासों से हासिल किया जायेगा। दल के सदस्य जनता के भावी शासकों की तरह नहीं बल्कि उस के पथ-प्रदर्शकों, मित्रों और दार्शनिकों की तरह काम करेंगे। स्वतन्त्रता के लक्ष्य के अनुरूप दल का राजनीतिक व्यवहार विवेकशील और नैतिक होगा। जनता की स्वतन्त्रता की आकांक्षा में वृद्धि के साथ-साथ दल का विकास होगा और वह प्रबुद्ध जनमत के समर्थन के साथ जनता की बुद्धिमत्तापूर्ण सक्रियता के माध्यम से सत्ता में आयेगा। स्वतन्त्रता और सत्ता के केन्द्रीकरण की पारस्परिक असंगति को समझते हुए उस का उद्देश्य सत्ता का व्यापकतम विकीर्णन

होगा। उस का राजनीतिक सत्ता हासिल करना इस प्रक्रिया का एक चरण मात्र होगा और अपने अस्तित्व के तर्क ही से दल राजनीतिक सत्ता का उपयोग उस के और विकीर्णन के लिए करेगा जब तक कि राज्य सम्पूर्ण समाज के साथ एकसीम नहीं हो जाता।

अन्ततः, नागरिक का शिक्षण ही समाज के ऐसे पुनर्संगठन' के लिए आवश्यक शर्त है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण किये बिना सब की प्रगति और समृद्धि में सहायक हो। मौलिक लोकतान्त्रिक राज्य नागरिक के राजनीतिक और नागरिक शिक्षण के लिए शाला की भूमिका निभायेगा। उस की संरचना और कार्य अनासक्त व्यक्तियों को सार्वजनिक जीवन की अग्रिम पंक्ति में आने में सक्षम बनायेंगे। ऐसे व्यक्तियों से बना हुआ राज्य किसी विशेष वर्ग के हाथों में दमन का हथियार नहीं रह पायेगा। केवल आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र मनुष्यों का सत्तारूढ़ होना ही दासता की जंजीरों को तोड़ सकता और सब के लिए स्वतन्त्रता का समारम्भ कर सकता है।

नव मानववाद का व्यवहार

दो वर्ष पूर्व पिछले अखिल भारतीय सम्मेलन में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने नव मानववाद के बुनियादी सिद्धान्तों को 'बाईस सिद्धान्त सूत्रों' के रूप में स्वीकार किया था। उन दार्शनिक सिद्धान्तों तथा उन के राजनीतिक निष्कर्षों को उस संकट का हल निकालने के लिये किये गये प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत किया गया था जिस में समकालीन संसार महायुद्ध के बाद से फँसा हुआ है। संकट की मुख्य विशेषताएँ अब अधिक उदग्र और स्पष्ट हो गयी हैं; यद्यपि दो वर्ष पहले भी वे पहचानी जा सकती थीं। इस बीच की अवधि में हुए विकास ने समस्या के स्वरूप और उस के सम्भावित हल के सम्बन्ध में हमारे निष्कर्षों को पुष्ट ही किया है।

यदि नव मानववाद के सिद्धान्त विश्व-संकट के स्वरूप और उस की गम्भीरता को ठीक से समझ रहे हैं तो स्पष्ट है कि उन सिद्धान्तों का व्यवहार ही संकट का सर्वाधिक युक्तिसम्मत हल प्रस्तावित करेगा। नव मानववाद के व्यवहार पर किये जाने वाले सन्देह ही तो उस रोग के लक्षण हैं जिस की वह चिकित्सा करना चाहता है। वे राजनीति और राजनीतिक क्रियाशीलता की रूढ़िबद्ध धारणाओं तथा उस रूढ़िबद्ध

मनोवृत्ति से पैदा होते हैं जो सामान्य जनता को किसी एक या दूसरे राजनीतिक दल का उपकरण मानती है।

रूढ़िबद्ध राजनीति अपनी सारी प्रगतिशील सार्थकता खो चुकी है। राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार को उस स्थिति के सन्दर्भ में सोचा जाता है जिस का अब अस्तित्व ही नहीं है। पूँजीवाद अब अपने गुणों के पालन का दावा करने वाली एक स्थिर समाज व्यवस्था नहीं है। दुनिया के एक बड़े हिस्से में वह ध्वस्त हो चुका है और लगभग प्रत्येक स्थान पर अपना नैतिक आधार गवाँ चुका है। अनुवर्ती सामाजिक अस्थिरता ने एक नयी स्थिति रच दी है। एक ओर, असुरक्षा बोध से ग्रस्त जनता के बड़े हिस्से राष्ट्र अथवा वर्ग के नाम पर सर्वसत्तावाद के आकर्षण के वशवर्ती हो गये हैं। वे अपनी वैयक्तिकता स्वतन्त्र विचारशील प्राणियों के रूप में अपने अस्तित्व को सामूहिकता में डूब जाने से मिली शक्ति और सुरक्षा के झूठे बोध से बदल लेने के लिए प्रवृत्त हैं। दूसरी ओर, पूँजीवाद के पतन के साथ सामाजिक नेतृत्व भी क्रमशः पूँजी के स्वामियों से सफल राजनीतिक दलों में स्थानान्तरित हो गया है। इस का परिणाम है सत्ता राजनीति की प्रमुखता। इस प्रक्रिया को एक तीसरे कारक से भी सहायता मिलती है। प्रतिद्वन्द्वितामूलक पूँजीवाद के ध्वस्त होने के साथ मुक्त अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त को राज्य-नियोजन के सिद्धान्त द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया है। आर्थिक नियोजन राज्य के कार्य-क्षेत्र और शक्ति को बढ़ाता है। राज्य के नियन्त्रकों में अपार शक्ति केन्द्रित हो गयी है। सत्ता-राजनीति का पुरस्कार एक दुर्जेय अधिनायकत्व की स्थापना है।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि पूँजीवाद का युग सत्ता-राजनीति के युग के लिए जगह छोड़ता जा रहा है। राजनीतिक विश्व पूँजीवाद के समर्थकों और विरोधियों के बीच नहीं अधिनायकवादी सत्ता के लिए पिपासु सर्वसत्तावादी शक्तियों के बीच ध्रुवीकृत हो रहा है। अन्तिम परिणाम में यह बात महत्त्वहीन है कि वे वामपंथी हैं या दक्षिणपंथी। दोनों में से किसी की भी विजय स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र और सामान्य कल्याण के लिए समान रूप से हानिकारक है। इसलिए मुद्दा पूँजीवाद और समाजवाद के बीच नहीं बल्कि सत्ता-राजनीति और लोकतन्त्र के बीच है। इस स्थिति में राजनीति की रूढ़िबद्ध धारणाओं को छोड़ना होगा; लोकतान्त्रिक राजनीति की कल्पना भिन्न तरीके से करनी होगी।

समाजवादी कार्यक्रमों वाले वामपंथी दल लोकतान्त्रिक होने के दावों के बावजूद हमारे समय के संकट का कोई हल प्रस्तुत नहीं करते। प्रथमतः, उत्पादन, वितरण और परिवर्तन के साधनों के राष्ट्रीयकरण का कार्यक्रम आज की केन्द्रीय समस्या—लोकतन्त्र को एक वास्तविकता बनाने—की कोई पर्वाह नहीं करते। परिणामस्वरूप, वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में उनके कार्यक्रम दक्षिणपंथी दलों के कार्यक्रम के समान ही होते हैं। निजी पूँजीवाद—मुक्त अर्थव्यवस्था—के अयुक्तिसंगत सिद्ध होने के

कारण दक्षिणपंथी भी राज्य-नियोजन अर्थात् उत्पादन, वितरण और परिवर्तन के साधनों पर राज्य-स्वामित्व का समर्थन कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, राज्य नियन्त्रण के दोनों हिमायतियों में से कोई भी अपने कार्यक्रमों के कारण हो रहे राज्य में शक्ति के केन्द्रीकरण का कोई उपचार प्रस्तावित नहीं करते। दोनों संसदीय लोकतन्त्र से प्रतिबद्ध हैं जो एक राजनीतिक अल्पमत को जनता के नाम पर शासनारूढ़ करती और लोकप्रिय सम्प्रभुता को मात्र औपचारिकता में बदल देती है। राज्य पर जनता के राजनीतिक नियन्त्रण के बिना राज्य के आर्थिक नियन्त्रण का कोई मुक्तिदायी मूल्य नहीं है। संसदीय लोकतन्त्र से प्रतिबद्धता के कारण समाजवाद राज्य-पूँजीवाद से फ़र्क़ नहीं है।

वामपंथी और दक्षिणपंथी कार्यक्रमों में समरूपता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उन के राजनीतिक व्यवहार की समरूपता है। सत्ता-संघर्ष में उलझे होने के कारण वे ऐसे उपाय अपनाने को प्रवृत्त होते हैं जो उन की लोकतान्त्रिक वृत्ति का खंडन करते हैं। लोकप्रिय होने के लिए वे जनता के पूर्वग्रहों की चाटुकारिता करते और उस के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पिछड़ेपन में बद्धमूल सत्तावादी परम्परा को पोषित करते हैं। वामपंथी दल सर्वसत्तावादी भावनाओं पर निर्भर रहने में दक्षिणपंथियों से कम नहीं है जब कि अपनी विवेकशीलता और वैयक्तिक गरिमा के प्रति सचेत आत्मनिर्भर जनता लोकतन्त्र की पूर्वशर्त है। वर्ग के सामूहिकता के आकर्षण के साथ वे राष्ट्र के सर्वसत्तावादी आकर्षण को भी मिला देते हैं। इस प्रकार समाजवादी राष्ट्रवाद के हिमायती बन जाते हैं। इस तरह विभिन्न दलों के कार्यक्रम और राजनीतिक व्यवहार में कोई अन्तर न होने की वजह से उन के बीच संघर्ष सत्ता के लिए छीनाझपटी का चरित्र ग्रहण कर लेता है जो न केवल किसी प्रगतिशील सम्भावना से शून्य है बल्कि लोकतन्त्र के सांस्कृतिक मूल्यों के लिए विनाशक भी है। उस ने विभिन्न देशों में सर्वसत्तावादी शक्तियों की वृद्धि में सहायता दी है और दुनिया को एक महाविपत्तिकारी सैनिक संघर्ष के कगार पर ला दिया है।

सत्ता की ललक, चाहे लक्ष्य उस का विकीर्णन ही हो, अपने उद्देश्य को विफल कर देती है। सत्ता-राजनीति के क्षेत्र में वही दल सफल होता है जो सर्वसत्तावादी आकर्षण तथा जनोन्माद, अन्ध आस्था और वीरपूजा में अन्य दलों से श्रेष्ठ साबित हो सके। कोई भी दल इस संघर्ष में शामिल हो कर जीतने के बावजूद अपने आन्तरिक संगठन तथा जनता के प्रति अपनी मनोवृत्ति और उस पर प्रभाव में लोकतान्त्रिक नहीं रह सकता। परिणामस्वरूप, सत्ता पर कोई भी दल क़ाबिज़ हो, उस का विकीर्णन कभी भी नहीं हो पाता।

राजनीति में सर्वसत्तावाद का विकास प्राकृतिक तथा सामाजिक दर्शन में अबुद्धिवाद और नव-रहस्यवाद एवं इतिहास और राजनीति में सोद्देश्यवादी दृष्टि का समकालिक

है। मनुष्य की सृजनात्मकता में विश्वास को उस के अज्ञान तथा असहायता के बोध द्वारा दबा दिया गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता की तलाश में अपेक्षाकृत एक अल्पावधि में ही अद्वितीय प्रगति लाने वाली यूरोपीय पुनर्जागरण की मानववादी परम्परा से प्रत्यावर्तन हो रहा है। व्यक्तिवाद, विवेकवाद और मानववाद से पश्चिम के पुनःपतन ने भारत जैसे उन पूर्वी देशों में व्याप्त भाग्यवाद और अन्ध आस्था की परम्परा में सहानुभूतिपूर्ण अनुगूँज पायी है जिन्हें अभी पुनर्जागरण के अनुभव से गुज़रना बाक़ी है। इस का परिणाम विज्ञान और तकनीकी में अपनी ही प्रतिभा से उत्पन्न शक्तियों पर नियन्त्रण रख पाने के मनुष्य के सामर्थ्य पर विश्वास के सामान्य अभाव के रूप में सामने आया है।

सार्वजनिक मामलों के प्रबन्धन में सामान्य जनता की योग्यता में विश्वास के अभाव की ही राजनीतिक अभिव्यक्ति राजतन्त्र के कथित प्रतिनिधि-सत्तात्मक सरकार द्वारा प्रतिस्थापन में हुई है। सत्ता के प्रत्यायोजन की संसदीय प्रणाली इस सिद्धान्त को अमान्य कर देती है कि सम्प्रभुता पर जनता का स्वत्व है। संसदीय लोकतन्त्र का विरोध करने वाले वामपंथी इसी छद्म-वैज्ञानिक धारणा से शुरू करते हैं कि जनता की आर्थिक स्थितियों में अल्पमत सत्ता द्वारा लाये जाने वाले परिवर्तनों के विना लोकतन्त्र की स्थापना के लिए आवश्यक उस का बौद्धिक और नैतिक विकास असम्भव है। ये विचार सत्ता-राजनीति को नैतिक अनुमोदन तथा हितैषी अधिनायकत्व के लिए बहाना जुटाते हैं। दूसरी ओर, एक बार स्थापित हो जाने पर कोई भी अधिनायकत्व अपने को बनाये रखना चाहता है। शासक अपने शासन के आधार को ही नष्ट कर देने वाले क़दम नहीं उठाना चाहते। इस का परिणाम होता है जनता की पूरी असहायता।

लोकतन्त्र मानववादी परम्परा पर पुनराग्रह द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। मनुष्य ही अपनी दुनिया की कसौटी है। अन्तर्निष्ठ विवेकशीलता की वजह से वह अनुभव से सदैव सीख सकता है। अपने लिए एक बेहतर ज़िन्दगी हासिल करने के प्रयासों में वह अपने बौद्धिक गुणों और नैतिक मूल्यों का विकास करता है। यह क्षमता केवल कुछ ही लोगों को अथवा आर्थिक विकास के किसी ख़ास स्तर पर ही प्राप्त नहीं होती। आर्थिक पर्याप्तता के सांस्कृतिक विकास में सहायक होने के बावजूद यह विचार ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रामक और तार्किक स्तर पर अयुक्तिसंगत है कि एक का होना दूसरे की पूर्वशर्त है। अस्तित्व के लिए अपने संघर्ष के क्रम में ही मनुष्य की क्षमताएँ विकसित हुई हैं।

इतिहास के विकास-क्रम में आध्यात्मिक विद्रोह सदैव ही महान सामाजिक परिवर्तनों के अग्रगामी रहे हैं। मानसिक स्वतन्त्रता राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को हासिल करने के किसी भी प्रयास की पूर्वशर्त रही है। आर्थिक अपर्याप्तता, राजनीतिक दमन तथा सामाजिक अस्थिरता से सामना होने पर भी जनता में स्थिति को बदल

देने की इच्छा और सामर्थ्य पैदा हो जाते हैं। वैज्ञानिक मानववाद इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि स्वतन्त्रता की आकांक्षा और उसे हासिल करने का सामर्थ्य केवल एक अल्पसंख्या को ही प्राप्त है जो इस प्रकार नेतृत्व के लिए उपयुक्त हो जाती है।

समकालीन संकट की मुख्य विशेषताओं का सर्वेक्षण मौलिक मानववादियों के इस निष्कर्ष पर पुनः बल देता है कि सत्ता के लिए प्रयासरत कोई दल स्वतन्त्रता को हासिल करने का माध्यम नहीं हो सकता। नव मानववाद के दर्शन द्वारा कल्पित स्वतन्त्रता के आन्दोलन को एक राजनीतिक आन्दोलन से अधिक व्यापक होना होगा तथा उस का संगठन और नेतृत्व पारम्परिक प्रकार के किसी राजनीतिक दल द्वारा नहीं किया जा सकता। सत्ता की छीनाझपटी से अलग रहते हुए वह जनता को लोकतन्त्र की सिद्धि के लिए अनिवार्य सांस्कृतिक मूल्यों में शिक्षित करने का प्रयास करेगा। एक नयी जीवन-दृष्टि की रचना उस का मुख्य उद्देश्य होगा और भारत की वर्तमान स्थिति में एक दीर्घ अवधि तक वही उस का सर्वोपरि काम। इस आधार पर वह लोकतान्त्रिक संस्थाओं का विकास करेगा जो सत्ता का व्यापकतम विकीर्णन कर सकेंगी। उस के विचारों का प्रभाव केवल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों तक सीमित नहीं रहेगा। इस का परिणाम सामाजिक सम्बन्धों के नये रूप की स्थापना तथा राजनीतिक संस्थाओं के नये प्रतिरूपों के निर्माण के कार्य में संलग्न नये पुरुषों और स्त्रियों का उदय होगा। यह आन्दोलन एक व्यापक बौद्धिक-सामाजिक आन्दोलन होगा।

वैज्ञानिक राजनीति के विकास के लिए प्रतिबद्ध मौलिक लोकतान्त्रिक दल ऐसे ही व्यापक आन्दोलन के रूप में पहले से विकसित हो रहा है। अपने प्रारम्भ से ही दल ने अपने को जनता के राजनीतिक शिक्षण पर एकाग्र, विवेकशील प्रचार तक सीमित रखते हुए सत्ता राजनीति के लिए अपने विचारों पर कोई समझौता नहीं किया है। उस ने पुनर्जागरण आन्दोलन के लिए नींव डाल दी है। उस ने संगठित लोकतन्त्र की अवधारणा विकसित की है जिस में जनता द्वारा किसी राजनीतिक दल को सत्ता हस्तान्तरित नहीं होगी बल्कि जनता में ही व्यस्त रहेगी जो राजनीतिक प्रशासन में दैनन्दिन सहभागिता द्वारा उस का उपयोग करने में समर्थ बनी रहेगी। और अन्त में, यह मानते हुए कि जनता में वस्तुतः न्यस्त हुए विना सत्ता स्वतन्त्रता का निषेध है, दल ने सत्ता में आने के उस लक्ष्य को शपथपूर्वक त्याग दिया है जो स्वयं उस के सिद्धान्तों से असंगत तथा रूढ़िबद्ध धारणाओं के प्रभाव में स्वीकार कर लिया गया था। इन परिवर्तनों के साथ ही दल एक पारम्परिक राजनीतिक दल के अपने रूप से ऊपर उठ रहा है।

इस प्रक्रिया को पूरा करने की दृष्टि से अब मौलिक लोकतन्त्रवादी नव मानववाद के दर्शन से प्रेरित व्यापक सामाजिक आन्दोलन को अधिक प्रभावी रूप में विकसित करने

के लिए अपने को पुनर्संगठित करेंगे और इसे अब से मौलिक मानववादी आन्दोलन के नाम से जाना जायेगा। एक ओर, यह मौलिकतावादियों के कार्यक्रम और उनकी दैनन्दिन गतिशीलता में परिवर्तन का संकेत करेगा। दूसरी ओर, एक अधिक उपयुक्त नाम का चयन आन्दोलन की व्यापक प्रकृति का द्योतक होगा और राजनीतिक दलों के लक्ष्य, गतिविधि तथा संगठन से सम्बन्धित धारणाओं से भी मुक्ति दिलायेगा। मौलिक मानववादी आन्दोलन के काम और प्रगति को जन-अनुकरण के सन्दर्भ में नहीं बल्कि जनता में स्वतन्त्रता, विवेकशीलता और लौकिक नैतिकता की भावना के विस्तार और राज्य में उस के प्रभाव में वृद्धि के आधार पर मापा जायेगा।

मौलिक मानववादी आन्दोलन का कार्यक्रम समाज की ऐसी पुनर्रचना के लिए प्रयास करना होगा जो क्रमशः मानव व्यक्तित्व के पूर्णतम विकास के आर्थिक अथवा सांस्कृतिक बाधकों का निवारण कर सके।

नये समाज के राजनीतिक संगठन की रूपरेखा दल के अन्तिम अधिवेशन में स्वीकृत बाईस सिद्धान्त सूत्रों में स्पष्ट कर दी गयी है तथा चार वर्ष पूर्व रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी द्वारा प्रस्तावित 'स्वतन्त्र भारत का संविधान-प्रारूप' में चित्रित है। राज्य एक संगठित लोकतन्त्र होगा जिस में राज्य के विधायी और कार्यपालिकीय कार्यों पर सीधे जनता द्वारा स्थायी नियन्त्रण और निरन्तर पर्यविक्षण रखा जा सकेगा। एक पिरामिडाकार संरचना के शीर्ष पर संसद जनता की राजनीतिक शिक्षा के लिए शालाओं तथा लोकप्रिय सम्प्रभुता के साधनों के रूप में जनसमितियों के तन्त्र पर आधारित होगी। राज्य बौद्धिक निष्ठा तथा नैतिक अनासक्ति वाले आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र स्त्री-पुरुषों से बनाया जायेगा।

नये समाज की अर्थव्यवस्था को भी स्पष्ट परिभाषित करने की आवश्यकता है। इस का नियोजन व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा कल्याण को बढ़ाने के उद्देश्य से किया जायेगा। वह, एक ओर, मुनाफ़े के लिए उत्पादन को समाप्त करेगी तथा, दूसरी ओर, नियन्त्रण का आवश्यक केन्द्रीकरण नहीं होने देगी। तकनीकी कुशलता के नाम पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता को जोखिम में डालने की अनुमति नहीं दी जायेगी। यह अर्थव्यवस्था पूँजीवादी अथवा समाजवादी नहीं बल्कि सहकारमूलक होगी। उपभोक्ताओं और उत्पादकों की सहकारी संस्थाओं के तन्त्र के आधार पर काम करेगी तथा समाज की आर्थिक क्रियाशीलताओं का संचालन और समन्वय इन संस्थाओं के माध्यम से जनता द्वारा होगा। यह सहकारी अर्थव्यवस्था आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का पूरा लाभ उठायेगी और व्यापक सामाजिक उपयोगिता सेवाओं के माध्यम से सामाजिक अधिशेष के समतापरक वितरण को अंजाम देगी।

आन्दोलन का राजनीतिक और आर्थिक कार्यक्रम समुदाय के सदस्यों द्वारा वैयक्तिक स्तर पर स्वतन्त्रता के उपयोग के आधार पर इस बुनियादी मूल्य को प्राप्त करने की आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित किया जायेगा।

नये समाज की संस्कृति का विकास वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नैतिकता के वातावरण में होगा। राज्य का कार्य वैज्ञानिक और कलात्मक विकास का नियमन नहीं बल्कि ऐसी स्थितियों का निर्माण होगा जो सृजनात्मक उद्यम के सभी रूपों के लिए अधिकतम अवकाश और प्रोत्साहन दे सकें।

आन्दोलन का सर्वप्रमुख कार्य नव मानववाद के दर्शन के प्रचार और राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य सामाजिक समस्याओं में उस के प्रयोग द्वारा एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण लाना है।

आन्दोलन के बौद्धिक आधार को सुदृढ़ करने के लिए मौलिकवादी अपने दर्शन का निरन्तर अन्वेषण, अद्यतन वैज्ञानिक जानकारी और अनुभव के प्रकाश में उस का परीक्षण तथा सभी समाज-विज्ञानों में उस का उपयोग करते रहेंगे। साथ ही वे आज की मुखर आवश्यकताओं के सन्दर्भ में इस की प्रासंगिकता को उजागर करते हुए दर्शन के सार तत्त्वों को जनता में प्रचारित करेंगे। वे जनता में स्वतन्त्रता की आकांक्षा जगायेंगे, उन की आत्मनिर्भरता को प्रोत्साहित करेंगे तथा उन में वैयक्तिक गरिमा का बोध उपजायेंगे, विवेकवाद एवं लौकिक नैतिकता को उनके मन में बिठायेंगे और वैश्विक मानववाद की भावना का प्रसार करेंगे। लोकप्रिय पहल से दैनिक समस्याओं के सुलझाव का रास्ता दिखा कर मौलिकवादी अधिकारवाद के आधारों अज्ञान, भाग्यवाद, अन्ध आस्था तथा वैयक्तिक असहायता के बोध के ख़िलाफ़ लड़ेंगे। वे समस्त सामाजिक रूढ़ियों और संस्थाओं का मानववादी दृष्टि से परीक्षण करेंगे।

वैयक्तिक पहल और सहकारी उद्यम का वातावरण बना कर मौलिकवादी जनता के साथ मिल कर लोकतान्त्रिक राज्य की प्राथमिक इकाइयों के रूप में जनसमितियों तथा सहकारी कल्याणमंडल (कॉमनवैल्थ) की प्राथमिक इकाइयों के रूप में सहकारी संस्थाओं का निर्माण करेंगे। लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण के विस्तार और इन प्राथमिक लोकतान्त्रिक संस्थाओं की कार्यात्मकता के परिणामस्वरूप जनता सरकार पर अपने नियन्त्रण को बढ़ाये रखने में सक्षम हो जायेगी। इस प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिए मौलिकवादी प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र में विधायिका के चुनाव के लिए बौद्धिक और नैतिक अनासक्ति वाले पुरुषों-स्त्रियों को नामज़द करने के लिए जनसमितियों को प्रोत्साहित करेंगे। इस से एक वास्तविक लोकतान्त्रिक संविधान का प्रवर्तन और सहकारी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। विवेकशील, उत्तरदायी, तथा स्वातन्त्र्य-प्रेमी सदस्यता के कारण जनसमितियाँ सामाजिक और राजनीतिक संगठन की सम्प्रभु इकाइयों के रूप में विकसित होंगी और इन समितियों का राष्ट्रव्यापी तन्त्र एक वास्तविक लोकतान्त्रिक राज्य की संरचना को रूप देगा।

(26-30 दिसम्बर, 1948 को कलकत्ता में आयोजित रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय अधिवेशन में स्वीकृत वक्तव्य)

विज्ञान और समाज

हमारे पिछले वर्ष के शिविर में समकालीन दुनिया के सम्मुख प्रस्तुत चुनौतियों पर चर्चा की गयी थी। उस चर्चा का निष्कर्ष यह था कि हमारे समय के संकट को एक ऐसे नये समाज-दर्शन की ज़रूरत है जो सार्वजनिक जीवन में नैतिकता को ऊँची हैसियत देता हो। राजनीति अर्थात् सत्ता के लिए बेईमान छीनाझपटी के प्रति जुगुप्सा तथा अल्पमत द्वारा बहुमत के आर्थिक शोषण का अस्वीकार अब केवल वामपंथी दलों तक सीमित नहीं रह गये हैं। अब उन में सभी की हिस्सेदारी है। सत्ता-संघर्ष में डूबे हुए राजनीतिक दलों के नेता सत्ता राजनीति की भर्त्सना करने की बगुलाभगती करते हैं। उच्च वर्गों द्वारा संरक्षित राजनीतिक दल एक वर्गहीन समाज बनाने का उद्देश्य घोषित करते हैं। व्यापारी—छोटे हों या बड़े—स्वयं को समाजवादी कहते हैं। चारों ओर नैतिकता की माँग हो रही है; सार्वजनिक व्यक्तियों के लिए नैतिकता की बात करना लाज़िमी हो गया है।

फिर भी, सुधार के चिह्न कहीं नहीं दिखायी देते। जंगल का क़ानून, राजनीतिक सत्ता के लिए छीनाझपटी, और आर्थिक लूट की लालसा सर्वोपरि हैं; कोई भी देश अपने

पर झूठे होने का अधिक गम्भीर आरोप लगवाये बिना इस आरोप से मुक्ति का दावा नहीं कर सकता।

तथापि, यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि सार्वजनिक जीवन में नैतिक संकोच के अभाव पर दुःख प्रकट किया जाता है, कि नैतिक मूल्यों के प्रति मौखिक वफ़ादारी दिखायी जाती है। यदि राजनीतिज्ञ व्यवहार में अपनी घोषणाओं के प्रति सच्चे नहीं रह पाते तो यह अनिवार्यतया बेईमानी का प्रमाण नहीं है। वे एक दुष्चक्र में फंस गये हैं। किसी खेल में शामिल हो जाने पर उस के नियमों के अनुसार ही खेलना पड़ता है। उपदेशक राजनीतिज्ञों की भूल यह न समझ पाना है कि राजनीतिक व्यवहार का लक्ष्य जब तक सत्ता रहेगी तब तक अप्रासंगिक नैतिक संकोच उस पर अंकुश नहीं लगा सकते; उसकी पथ-प्रदर्शक उक्ति रहेगी—साध्य ही साधन का औचित्य है। एक भँवर में फंस जाने के कारण सर्वश्रेष्ठ मनुष्य भी निम्नतम गड्ढे में गिर जाते हैं जो उन्हें सत्ता का शिखर लगता है। समकालीन दुनिया का क्षुब्धकारी अनुभव विचारशील लोगों को बाध्य करता है कि वे उन सामाजिक दर्शनों के बुनियादी सिद्धान्तों का पुनः परीक्षण करें जिन से विभिन्न राजनीतिक दलों—दक्षिणपंथी और वामपंथी, उदार और अनुदार, प्रतिक्रियावादी और क्रान्तिकारी—ने अपने राजनीतिक सिद्धान्त बरामद किये हैं। अनुभव इन के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं बताता क्योंकि अपनी उद्देश्य-प्राप्ति के लिए घोषित साधनों की भिन्नता के बावजूद सभी राजनीतिक दलों का सर्वनिष्ठ लक्ष्य सत्ता पर क़ाबिज़ होना है। इसलिए सार्वजनिक जीवन में नैतिकता के लिए एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त की पूर्वमान्यता आवश्यक है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए सत्ता पर अधिकार को पूर्वशर्त न बनाता हो, और इस नये राजनीतिक सिद्धान्त को किसी ऐसे सामाजिक दर्शन से बरामद करना होगा जो मनुष्य को प्रमुखता और सम्प्रभुता की हैसियत में रखता हो।

अन्तःकरण का आदेश होने के कारण नैतिकता का व्यवहार व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। नैतिक मनुष्यों के विना नैतिक समाज नहीं हो सकता। अभी तक नयी सामाजिक व्यवस्था के सभी स्थपति और अभियन्ता इस प्रक्रिया को उलट देते रहे हैं; वे सब एक आदर्श व्यवस्था को मानव व्यक्तित्वों के विकास के लिए एक पूर्वशर्त मानते हैं। उदारवादियों का विश्वास था कि एक अच्छे जीवन का आदर्श अच्छे क़ानूनों से प्राप्त किया जा सकता है। उन के सुधारवाद के विपरीत समाजवादियों और बाद में साम्यवादियों का दावा था कि सर्वनिष्ठ स्वामित्व के आधार पर आर्थिक पुनर्रचना मानव विकास के लिए आवश्यक शर्त है। परिणाम है सामूहिकता द्वारा व्यक्ति को ग्रस लिया जाना; राजनीतिक व्यवहार में सर्वसत्तावाद और अधिनायकत्व समूहवादी सामाजिक दर्शनों के सहपरिणाम हैं।

व्यक्ति को सामाजिक दर्शन के केन्द्र में रखना पर्याप्त सरल है। वास्तव में, व्यक्तिवाद उदार सामाजिक दर्शन और राजनीतिक सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता है; साथ

ही, उदारवाद आधुनिक सभ्यता की भव्य उपलब्धियों के लिए प्रेरणा-स्रोत रहा है। लेकिन व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को व्यवहार में एक अमूर्त सिद्धान्त में घटा दिया गया और सम्प्रभु व्यक्ति को एक क़ानूनी कल्पना में। उदारवाद के अपकर्ष ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य को नकारने वाले विभिन्न समूहवादी सिद्धान्तों को प्रोत्साहित किया, जिन्होंने खोखली अमूर्तता कह कर इस विचार की खिल्ली उड़ाई, और घोषित किया कि स्वतन्त्र होने के लिए व्यक्ति को समूह में अपना विलय करना होगा; दूसरे शब्दों में, आत्मविनाश में स्वतन्त्रता पानी होगी। यदि उदारवाद ने सम्प्रभु व्यक्ति को एक क़ानूनी कल्पना में बदल दिया तो स्वतन्त्रता की समाजवादी और साम्यवादी अवधारणा भी एक फ़रेब ही रही।

उदारवादी समाज-दर्शन के पतन का कारण नैतिकता के अनुमोदन के बारे में अस्पष्टता रही। उस की शुरूआत इस उत्कृष्ट सिद्धान्त से हुई थी कि व्यक्ति एक नैतिक सत्ता है और ऐसा होने के कारण सम्प्रभु है।

यह एक पुरानी मान्यता है; यूरोप में ईसाइयत ने इसे लोकप्रिय बनाया : मनुष्य एक नैतिक सत्ता है क्योंकि उस के पास आत्मा है जो ब्रह्मांडीय नैतिक व्यवस्था के दिव्य प्रकाश की एक चमक है। प्रारम्भ में, इस से प्रेरित यूरोपीय मानवता ने मध्यकालीन समाज व्यवस्था की धर्माध्यक्षीय और साम्प्रदायिक संगठन की दासता को उखाड़ फेंका। लेकिन मनुष्य के नैतिक सार में धार्मिक विश्वास उस की सम्प्रभुता को बाधित करता है; निश्चय ही, वह मुक्तिदायी अवधारणा का निषेध है। अन्ततः, इस का निहितार्थ यही है कि मनुष्य मनुष्य के रूप में नैतिक नहीं हो सकता; ऐसा होने के लिए उसे अपने को किसी परामानवीय शक्ति के अधीन महसूस करना होगा। आध्यात्मिक दासता के इस बोध के साथ मनुष्य कभी वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अपनी शाश्वत आध्यात्मिक दासता की अनिवार्यता के सिद्धान्त के विरुद्ध मनुष्य का संघर्ष आधुनिक सभ्यता के प्रारम्भिक चरणों की उल्लेखनीय विशेषता था। उदारवाद उसी संघर्ष से उपजा था जो अठारहवीं शताब्दी में उच्च स्तर तक पहुँचा। प्रबुद्धता का युग उस का स्वर्णयुग है।

फ्रांसीसी क्रान्ति के आघात ने उदारवाद को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया। प्राकृतिक धर्म किसी लोकोत्तर नैतिक व्यवस्था के विरुद्ध था। प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी में नैतिक दर्शन के लोकातीतवाद के विरुद्ध उदारवादी समाज-सुधारकों और राजनीतिक सिद्धान्तकारों ने नैतिकता के उपयोगिता सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। यदि पहले में नैतिक मूल्य मानवीय अनुभव की कसौटी से परे अलौकिक धारणाएँ थे, तो दूसरे ने उन्हें किसी भी वस्तुपरक कसौटी से वंचित कर दिया जिस का तात्पर्य था नैतिकता का निषेध। इन दोनों के बीच सभ्य संसार एक नैतिक भ्रान्ति में फंस गया।

इसी समय, संसदीय लोकतन्त्र के आचरण और मुक्त अर्थ-व्यवस्था ने व्यक्ति को एक असहाय स्थिति में ला दिया। नैतिक भ्रान्ति और सामाजिक अव्यवस्था के सामूहिक प्रभाव ने मनुष्य के अपने में विश्वास को नष्ट कर दिया। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचार का समूहवादी उपहास समुदाय के अधिकांश के अनुभव से मेल खाता था। अपने में भरोसा खो देने के कारण व्यक्ति ने समूहवादी समाज-दर्शन द्वारा प्रस्तावित समूह की शक्ति में सुरक्षा की तलाश करने वाली आशा का स्वागत किया। राजनीति से मानवीय तत्त्व गायब हो गया। निम्न वृत्तियों और बुरे आवेगों को जगाना ही राजनीतिक व्यवहार का सार हो गया।

स्पष्ट है कि सामाजिक मान्यताओं और राजनीतिक व्यवहार पर हितकारी प्रभाव डाल सकने से पहले स्वयं नैतिक दर्शन को एक सुदृढ़ आधार पर खड़े होना होगा। इसलिए निर्णायक सवाल है : नैतिकता की आधारभूमि क्या है? क्या मनुष्य अपने में नैतिक हो सकता है? अभी तक प्रचलित मान्यता यही थी कि मनुष्य किसी लोकोत्तर या सामाजिक बाध्यता के कारण ही नैतिक व्यवहार कर सकता है। नैतिकता के स्रोत के बारे में यह दृष्टि चिरमान्य धारणा को ख़ारिज कर देती है कि मनुष्य एक नैतिक सत्ता है; लेकिन यदि एक वास्तविक क्रान्तिकारी समाज-दर्शन को एक विवेकशील राजनीतिक सिद्धान्त और नैतिक राजनीतिक व्यवहार का प्रदर्शन करना है तो इस विश्वास को पुनर्जीवित तथा आरम्भिक सीमाओं से मुक्त करना होगा।

इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति आधुनिक सभ्यता के इतिहास की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुई जब उस के प्रवर्तकों ने मनुष्य की प्रकृति और प्रकृति में उस के स्थान के बारे में कुछ निश्चित लौकिक अवधारणाएँ बनायीं। उन का साहसिक अनुचिन्तनात्मक विचार प्रकृति के बढ़ते जाते ज्ञान से क्रमशः और ताक़त लेता हुआ अठारहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक प्रकृतवाद के रूप में विकसित हुआ। यह पद्धति मानववादी थी जो विशेष सृष्टि के मतवाद को ख़ारिज करती और भौतिक प्रकृति में मनुष्य की उत्पत्ति की खोज करती थी। एक नियमसंचालित ब्रह्माण्ड की पृष्ठभूमि से विकसित होने के कारण मनुष्य अनिवार्यतः एक विवेकशील प्राणी है; इस रूप में, उस ने अपने व्यक्तित्व के विकास के साधन के रूप में आरम्भिक समाज की स्थापना की। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्तिकारी जीवशास्त्रीय खोजों ने प्राचीन विचारकों की अनुचिन्तनात्मक अवधारणाओं और विवेकशील परिकल्पनाओं को पुष्ट किया। लेकिन ठीक उसी समय उदारवाद की अस्पष्टता और अपर्याप्तता ने सभ्य संसार को नैतिक भ्रान्ति में बहा दिया। यह भ्रान्ति शताब्दी के मोड़ पर और घनी हो गयी जब भौतिक विज्ञानों की नयी खोजें द्रव्य और कार्य-कारण के बारे में उन शास्त्रीय अवधारणाओं को अमान्य करने लगीं जो वैज्ञानिक प्रकृतवाद की आधारशिलाएँ थीं। विज्ञान की प्रामाणिकता का दावा करने वाले एक नव-रहस्यवाद

ने मानववाद के दावों को चुनौती दी। केवल वस्तुपरक वैधता ही नहीं बल्कि मानवीय ज्ञान की वास्तविकता तक विवादास्पद हो गयी। ज्ञानमीमांसा पर अतिरेकपूर्ण आग्रह ने सृष्टिमीमांसीय और तत्वमीमांसीय चिन्तन को भ्रम में डाल दिया। बौद्धिक संकट ने नैतिक संकट को और गहरा कर दिया।

विज्ञान के प्रमाण पर मनोविज्ञान अतर्कबुद्धिवाद का उपदेश करने लगा; सहज या प्रातिभ ज्ञान के भेष में रहस्यवाद और लोकोत्तरवाद नैतिकता की ओर लौटे। मनुष्य अतर्कबुद्धिशील प्राणी है; वह अज्ञात शक्तियों की अन्ध प्रेरणाओं द्वारा सहज संचालित है; इसलिए निजी और सार्वजनिक जीवन में नैतिकता का आधार दंड-संहिता और पुलिस है या धर्माधिकारी। क़ानून और व्यवस्था के इन लौकिक और आध्यात्मिक संरक्षकों की निगरानी के बिना हर तरफ़ जंगलराज क़ाइम हो जायेगा। तथापि, हमारे समय की विडम्बना यही है कि हर तरफ़ जंगलराज ही क़ाइम है।

इस दुष्चक्र से निकलने का रास्ता उसी नैतिक दर्शन में मिल सकता है जो अपने मूल्यों का आधार मानव-प्राणी की विवेकशीलता में प्राप्त करता है। लेकिन मनुष्य की विवेकशीलता क्या है? विवेक क्या है? यह फिर कोई अभौतिक श्रेणी है या एक जैविक धर्म? पहले मामले में, नैतिकता के आधार की समस्या का हल विवेकशीलता में खोजने से नहीं मिलेगा। यह तो एक समस्या को दूसरी के हवाले करना है। प्रकृति में बुद्धि की अभिव्यक्ति के रूप में विवेकशीलता को एक जैविक कार्य माना जा सकता है और भौतिक नियतिवाद प्रकृति में बुद्धि है। अन्यथा, प्राकृतिक विधि और नैतिक व्यवस्था की शास्त्रीय अवधारणाएँ अर्थहीन हैं। आधुनिक विज्ञान—भौतिक और जैविक—प्रारम्भ की आनुमानिक अवधारणाओं में वस्तुगत सत्य की अन्तर्वस्तु भर देता है।

इन संक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणियों का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि इस शिविर में चर्चनीय विषयों का सीधा सम्बन्ध समकालीन दुनिया की व्यावहारिक समस्याओं से है। समय की सर्वाधिक मुखर आवश्यकता एक समाजदर्शन और राजनीतिक व्यवहार के साथ नैतिकता को समस्वर करना है। किसी भी क्रान्तिकारी समाज दर्शन को अपना आधार मनुष्य की सम्प्रभुता को ही बनाना होगा जिस का स्रोत केवल मनुष्य के नैतिक सत्ता होने के तथ्य में है। यह एक चिरकालिक मान्यता रही है जिसे व्यवहार में नहीं लाया जा सका; अब इस मान्यता को एक तथ्य के ज्ञान से प्रतिस्थापित करना होगा : कि मनुष्य नैतिक है क्योंकि वह विवेकशील है। यह ब्रह्मांड अपने में ही अन्तर्निहित विधियों से नियमित एक नैतिक व्यवस्था है। मनुष्य इसी पृष्ठभूमि से उपजता है।

हमारे समय की सर्वाधिक मुखर ज़रूरत एक नैतिक दर्शन है जिस का आधार नीतिशास्त्र ही हो सकता है। लोकोत्तरवाद के रेतीले दलदल और सापेक्षता के

चोरगड्ढों से बचने के लिए सामान्य दर्शन में नीतिशास्त्र को समेकित करना होगा। हम ऐसा हवाईमहल खड़ा करना नहीं चाहते जो समय के तूफ़ान के सम्मुख टिक न सके। एक यान्त्रिक सृष्टि-मीमांसा और भौतिक-यथार्थवादी तत्त्व-मीमांसा के सुदृढ़ आधारतल पर ही प्रकृतिवादी विवेकवाद पर आश्रित मानववादी नीतिशास्त्र का निर्माण किया जा सकता है। इसलिए हमें अपनी चर्चा का आरम्भ आधुनिक भौतिकी द्वारा उठायी गयी समस्याओं के परीक्षण से करना चाहिए। इस का अगला चरण निर्जीव द्रव्य और जीवित प्रकृति के सम्बन्ध-सूत्र को जानना होगा। यह अब लापता सूत्र नहीं है; इस से जीवन के आरम्भ की समस्या का हल होता है। यदि हम यह खोज लेते हैं कि प्रकृति की यान्त्रिक प्रक्रिया के दौरान ही जीवन उत्पन्न होता है तो मानवीय विवेकशीलता को नियमशासित भौतिक ब्रह्मांड से बरामद किया जा सकता है : भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच की काल्पनिक खाई पर इस प्रकार पुल बनाया जा सकता है और दर्शन की सर्वाधिक रहस्यमय समस्याओं, ज्ञानमीमांसा की समस्याओं को हल किया जा सकता है। सत्य कोई लोकोत्तर अवधारणा नहीं रहता; वह ज्ञान की अन्तर्वस्तु के रूप में सामने आता है। सत्य की मूल प्रकृति के प्रकाश में अन्य मूल्यों की प्रकृति अधिक स्पष्ट दीखती है और उन्हें एक युक्तिसंगत उच्चावच क्रम में रखा जा सकता है। अपने नैतिक मूल्यों को उस संसार से बरामद कर लेने पर, जिस में मनुष्य की सत्ता और उस का सम्भवन होता है, हम उन्हें एक ऐसे समाजदर्शन के साथ समस्वर कर सकेंगे जो समकालीन दुनिया के सम्मुख प्रस्तुत आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के लिए एक मानववादी रास्ता सुझाता है।

(इंडिअन रेनासाँ इंस्टीट्यूट, देहरादून के तत्त्वावधान में 25 मई से 4 जून, 1949 तक मसूरी में आयोजित उच्च अध्ययन के लिए ग्रीष्मकालीन शिविर में दिये गये उद्घाटन भाषण का सारांश।)

एक नये समाजदर्शन की बुनियाद

सार्वजनिक विचार के लिए यहाँ प्रस्तुत दो वक्तव्य जिन विचारों की रूपरेखा हैं सम्भवतः उन का प्रतिपादन अन्य द्वारा भी किया जाता रहा है। उन के लिए किसी एकस्व का दावा नहीं है। लेकिन निश्चय ही उन्हें अभी तक कहीं व्यवहार में नहीं लाया गया है। किसी भी तरह यह तथ्य उन पर प्रतिकूल टिप्पणी नहीं है जो इन विचारों का उपदेश पहले से करते रहे हैं। इन्हें व्यावहारिक रूप देने में विफलता का कारण मानव-प्रकृति की वह ग़लत अवधारणा है जो समाजदर्शन को अतिप्राचीन काल से दूषित करती रही है। आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार सामाजिक सम्बन्धों के रूप हैं और ये सम्बन्ध अन्ततः व्यक्तियों के बीच होते हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों और आर्थिक मतों को सम्मिलित करते हुए समाज-विज्ञान का बुनियादी वर्ग व्यक्ति मानव है। इसलिए मानव-प्रकृति के बारे में सही विचार ऐसे सामाजिक व्यवहार का प्रस्थान-बिन्दु होगा जो विफलता-बोध और असहायता के इस वर्तमान वातावरण से निकलने का रास्ता दिखा सके।

पूर्व वक्ताओं ने उल्लेख किया है कि हमारे देश के सम्मुख प्रस्तुत ज्वलन्त समस्याओं को एक नयी दृष्टि से देखने का सुझाव देने वाले इन वक्तव्यों को जीवन के एक व्यापक सामान्य दर्शन से बरामद किया गया है। उस दर्शन का मूल सिद्धान्त मनुष्य की प्रकृति के बारे में एक सुपरिभाषित विचार है। यह भी कोई बिल्कुल नयी बात नहीं है; सत्रहवीं शताब्दी से ही—जब एक व्यापक समाजदर्शन को विकसित करने के प्रयास शुरू हुए—इस आन्दोलन के सभी प्रवर्तकों ने मनुष्य की प्रकृति के बारे में किसी परिकल्पना से ही शुरूआत की। कई रूपान्तरों के साथ मुख्य पूर्वानुमान दो थे : पहला, यह सामान्य विचार कि मनुष्य प्रकृति से स्वार्थी है और सहज रूप में अपने स्वार्थ से ही सरोकार रखता है। दूसरे, मनुष्य का स्वभाव किसी न किसी उपकारी लोकोत्तर सत्ता में विश्वास करने का है। यद्यपि यह पहले का प्रतिवाद लगता है, लेकिन दूसरा पूर्वानुमान ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य के मूल पाप की प्राचीन ईसाई धारणा से जुड़ा हुआ था। इसलिए इस का निहितार्थ यह हुआ कि मनुष्य स्वभाव से तो पापी (बुरा) है, लेकिन स्वर्गस्थ पिता या किसी लोकोत्तर सत्ता को समर्पण करने की तत्परता के अपने गुण के कारण अच्छा हो सकता है।

इन में से किसी भी पूर्वानुमान के आधार पर कोई समाजदर्शन समाज की कल्पना मनुष्यनिर्मित क़ानून अथवा ईश्वरीय अध्यादेश से शासित एक दमनकारी संगठन के अतिरिक्त अन्य रूप में नहीं कर सकता था; दोनों का प्रयोजन मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों को दबाना था। किसी भी तरह समाज तो एक जेल ही था—दंडात्मक या सुधारात्मक। एक में, मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता का जन्मसिद्ध अधिकार राज्य की सम्प्रभुता को समर्पित करना था; दूसरे में, उसे इस बात में ईमान लाना था कि इस पृथ्वी पर जीवन किसी ईश्वरीय इच्छा अथवा अतिमानवीय शक्तियों द्वारा शासित और नियन्त्रित है जो उसके लिए कभी बोधगम्य नहीं है। दोनों में से किसी भी स्थिति में मनुष्य असहाय है और सामाजिक सम्बन्धों में स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवहार में कोई पहल नहीं रखता।

मानव-प्रकृति के बारे में इन प्रचलित विचारों के कारण ऐसा कोई समाज-दर्शन विकसित करना सम्भव नहीं था जिस से व्यवहार में स्वतन्त्रता और समानता का ज़िम्मा लेने वाले आर्थिक सिद्धान्तों और राजनीतिक मान्यताओं को बरामद किया जा सकता हो। आधुनिक सभ्यता का वर्तमान संकट इसी का परिणाम है। हर कोई हमारे समय के संकट की बात करता है; उस बारे में किताबें लिखी गयी हैं। हमारे समय के लगभग सभी बौद्धिक उस की प्रकृति को समझना और उस के कारणों को स्पष्ट करना चाहते हैं। लेकिन ये सभी सदाशयी और अधिकांशतः सक्षम प्रयास संकट के समेकित अवलोकन के अभाव में निष्प्रभावी हो जाते हैं। कुछ कहते हैं कि यह एक आर्थिक संकट है। वे सभी आर्थिक नियतिवाद में विश्वास नहीं करते।

लेकिन मनुष्य के स्वभावतः स्वार्थी होने और सभी आर्थिक क्रियाशीलता की प्रेरणा निजी लाभ ही होने का विचार उन्हें तर्क के स्तर पर उसी विश्वास की ओर ले जाता है। कार्ल मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या को समाज-दर्शन के स्तर पर तक उठा दिया। कुछ समकालीन दार्शनिक कार्ल मार्क्स से अधिक बुद्धिमान होने का स्वांग करते और इतिहास की उस की व्याख्या की आलोचना करते हैं। लेकिन उन का प्रस्थान-बिन्दु वही है जो मार्क्स का है। आधुनिक उदारवादी समाजशास्त्र ने आर्थिक मनुष्य के सिद्धान्त को ख़ारिज नहीं किया है। यदि मनुष्य प्राथमिक तौर पर एक आर्थिक प्राणी है तो भौतिक लाभ ही सामाजिक विकास का निर्धारक घटक होगा।

इस प्रस्थान बिन्दु से शुरू करने पर आधुनिक दुनिया का संकट सारतः आर्थिक मानना होगा। इस का निष्कर्ष यह होगा कि समाज का आर्थिक पुनर्निर्माण, पुरानी पड़ चुकी पूँजीवादी व्यवस्था का एक नयी व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापन ही इस संकट का निवारण कर सकता है। इस दिशा में नया समाज-दर्शन विकसित करने के प्रयत्न हुए हैं और किये जा रहे हैं; और ये प्रयत्न समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण के हिमायती लोगों तक ही सीमित नहीं हैं। अधिक सजग और अनुदार अर्थशास्त्री भी ऐसे ही प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे लोग कम ही होंगे जो आर्थिक सिद्धान्तों में संशोधन और तदनुसार आर्थिक व्यवहार के पुनर्संमजन की आवश्यकता नहीं देखते। क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण का विरोध करने वाले आधुनिक समय के संकट की औषध के रूप में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का सुझाव देते हैं। एक पूर्ववक्ता ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के निहितार्थों और उन के ख़तरों की ओर संकेत किया है।

आर्थिक पुनर्निर्माण की समाजवादी और साम्यवादी योजनाओं ने बहुत ध्यान आकर्षित किया और शक्तिशाली लोकप्रिय आन्दोलनों को प्रेरणा दी है। तीस वर्ष से भी कुछ पूर्व एक देश में क्रान्ति सम्भव हुई जहाँ साम्यवादी मान्यताओं और योजनाओं के अनुसार आर्थिक पुनर्निर्माण शुरू हुआ। कई अन्य देशों ने अनुकरण किया। कुछ समय पूर्व एशिया का सर्वाधिक विशाल देश भी उनके साथ हो गया। इस के परिणामस्वरूप अब हम यह मूल्यांकन कर सकने की स्थिति में हैं कि अर्थ-व्यवस्था में क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण सर्वतोमुखी विकास कर पाने में कितना सफल है। साम्यवाद के अन्तर्गत आर्थिक समानता की कसौटी तक भ्रामक और सन्देहास्पद है। रूस में औद्योगिक और कृषि उत्पादन में तो उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इस सम्बन्ध में नये साम्यवादी देशों की चूक प्रयोग की अल्प अवधि के कारण समझी जा सकती है। लेकिन स्वयं समाजवाद की पितृभूमि में उपभोग की गति उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ नहीं रह सकी है। इस का तात्पर्य है कि नयी अर्थ-व्यवस्था ने सामान्य जनता के भौतिक कल्याण में विशेष योगदान नहीं किया है। लेकिन इस दिशा में कुछ

प्रगति और उसे एक अच्छी शुरूआत मान लेने पर भी इस सन्देहास्पद सौभाग्य की क़ीमत की अनदेखी नहीं की जा सकती। क़ीमत है राजनीतिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता की ज़ब्ती तथा सांस्कृतिक जकड़बन्दी। यह अनुभव आर्थिक मनुष्य की अवधारणा पर आधारित समाज-दर्शन की भ्रान्ति को उजागर कर देता है।

जब भी किसी देश की सरकार—चाहे वह अधिनायकवादी हो या औपचारिक लोकतान्त्रिक—जनता के कल्याण की संरक्षक होने का दावा करती या जनता अपने लिए सरकार ही से सब कुछ करने की अपेक्षा करती है तो इस सन्दिग्ध आर्थिक सुरक्षा और अविश्वसनीय भौतिक कल्याण की क़ीमत हद से ज़ियादा चुकानी पड़ती है। ऐसी स्थिति में एक सरकार अपने तरीक़े से काम करने के लिए सत्ता की माँग करने की अधिकारी है। वैधानिक या वास्तविक अधिनायकत्व, स्वतन्त्रता का निषेध और बौद्धिक जकड़बन्दी, इसी परम्परा के युक्तिसंगत परिणाम हैं कि जनता स्वयमेव कुछ नहीं कर सकती। फलस्वरूप, समाज जनता और शासकों के रूप में बँट जाता है। शासक चाहे सामन्त हो या बुर्जुआ या सर्वहारा, यह भेद अनिवार्यतया स्वतन्त्रता के तिरोभाव की ओर ले जाता है।

कुछ लोग हैं जो आर्थिक नियतिवाद में विश्वास की बात नहीं करते और साम्यवाद के अधिनायकवादी तरीकों को अस्वीकार करते हुए भी एक अधिक समतावादी और वर्गहीन आर्थिक व्यवस्था द्वारा पूँजीवाद को प्रतिस्थापित करने की हिमायत करते हैं। वे कथित लोकतान्त्रिक समाजवाद या कल्याणकारी राज्य का विकल्प प्रस्तावित करते हैं। यह प्रयोग ब्रिटेन में किया जा रहा है। पूँजीवाद और समाजवाद के आर्थिक सिद्धान्तों का भेद व्यवहार में ग़ायब हो रहा है क्योंकि दोनों की शुरूआत आर्थिक मनुष्य की अवधारणा से होती है। कल्याणकारी राज्य की कल्पना उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त की पूँजीवादी समृद्धि के युग में बुर्जुआ उदारवाद द्वारा की गयी थी। सर्वहारा श्रमिक दल ने एक बुर्जुआ विचार को स्वीकार कर लिया। उस के व्यावहारिक रूप को ही लोकतान्त्रिक समाजवाद कहा जाता है। वह लोकतान्त्रिक है क्योंकि उस के अन्तर्गत स्वतन्त्र मतदान किया जा सकता है। लेकिन उस के आर्थिक वरदान क्या हैं? कल्याणकारी राज्य प्रत्येक श्रमिक को बनावटी दाँतों का एक सैट मुफ़्त देना तय करता है; वह सम्भवतः उस का जन्मसिद्ध अधिकार है। लेकिन उसे सप्ताह भर के लिए माचिस की एक डिबियाभर से अधिक माँस नहीं मिल सकता। इस कल्याण में कुछ न कुछ छल है। श्रमिक की एक जेब से पैसा निकाल कर उसकी दूसरी जेब में फ़ायदों के रूप में रख दिया जाता है; इस प्रक्रिया में पैसे की क़ीमत बीस-पच्चीस प्रतिशत कम हो जाती है। ये सिद्धान्त नहीं, तथ्य हैं। लोकतान्त्रिक समाजवाद तक में आर्थिक कल्याण ख़रीदना पड़ता है; क़ीमत है वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की ज़ब्ती

और सांस्कृतिक जकड़बन्दी। 'आर्थिक मनुष्य' की अवधारणा से आरम्भ करने वाला अनुदार, उदार या क्रान्तिकारी किसी भी तरह का विचार अन्ततः स्वतन्त्रता का हरण तथा मनुष्य का अवमूल्यन करता ही है। यदि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी और अविवेकशील है तो समाज अनिवार्यतः एक दमनकारी संगठन, अपने स्वर्गस्थ साथियों से सहायता प्राप्त पार्थिव सिपाहियों द्वारा नियन्त्रित एक जेल ही होगा। इसलिए आर्थिक नियतिवाद वह समाज-दर्शन नहीं हो सकता जिस की सभ्य मानवता को वर्तमान संकट से उबरने के लिए ज़रूरत है।

कुछ अन्य लोग हैं जो इस रोग का निदान राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं के संकट के रूप में करते हैं। उन का सुझाव है कि विभिन्न कुशल उपायों से संसदीय प्रणाली को सुधारा जाना चाहिए। सुझाये गये यान्त्रिक तरीक़ों के परीक्षण में जाने की आवश्यकता नहीं है; यदि संस्थाओं को मनुष्यों से अधिक महत्त्व दिया जाता है तो उन का विफल होना अनिवार्य है। इन राजनीतिक सिद्धान्तों का केन्द्रीय तर्कदोष संस्थाओं को मनुष्यों से ऊपर रखना और इस बात की अनदेखी करना है कि संस्थाएँ मनुष्यों द्वारा ही रची जाती हैं। आर्थिक कल्याण तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्रोत्साहित करने वाले सामाजिक पुनर्निर्माण की शुरूआत व्यक्ति मनुष्य से होनी चाहिए। यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी और इसलिए सत्तावाद में पूर्वप्रवृत्त हैं तो श्रेष्ठतम सिद्धान्त और संविधान स्वतन्त्रता का वादा निभाने तथा सार्वजनिक कल्याण को बढ़ाने वाली संस्थाओं का निर्माण नहीं कर सकते। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ऐसी संस्थाओं की रचना उन मनुष्यों द्वारा ही हो सकती है जो चाहे अभी तक स्वतन्त्र न हों, पर होना चाहते हों।

आधुनिक सभ्यता के संकट के बीज कारण के विश्लेषण से निकले समाजदर्शन से ही आर्थिक और राजनीतिक पुनर्गठन की समस्याओं की ओर एक नयी पहुँच का वक्तव्य बरामद किया गया है। विश्लेषण का आधार इस देश के राजनीतिक आन्दोलन के अनुभव और विश्व के समकालीन इतिहास के पाठ हैं। यह विश्लेषण इस बात को प्रकट करता है कि राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक असुरक्षा, जनता का दरिद्रीकरण, सर्वसत्तावाद का उदय, अधिनायकत्व का ख़तरा, एक और विश्वयुद्ध की बढ़ती सम्भावना आदि हमारे समय की सभी बुराइयों का एकमात्र मूल कारण मानव-प्रकृति के बारे में हमारी ग़लत धारणाएँ हैं। ग़लत धारणाओं के विभिन्न रूपों के आधार पर विकसित समाज-दर्शनों ने अन्ततः मनुष्य के आत्मविश्वास को कमज़ोर किया है। इसलिए, आधुनिक सभ्यता का संकट अन्ततः एक आध्यात्मिक संकट है।

अन्य लोग भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे, लेकिन उन का विश्वास था कि मनुष्य के मन का द्वन्द्व, उस का नैतिक विखंडन उस के सामाजिक अनुभव का संचित परिणाम है। इस निष्कर्ष का सहसाध्य यही है कि अधिक लोकतान्त्रिक संस्थाओं और अधिक

समतामूलक आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर मानव-समाज की पुनर्रचना ही हमारे समय की आत्यन्तिक ज़रूरत है।

लेकिन व्यवहार ने इस विचार के सतहीपन को दर्शा दिया; रोग ने दवा को माना नहीं। राजनीतिक अस्थिरता उन बचे-खुचे देशों में भी फैल गयी, जहाँ संसदीय लोकतन्त्र का दिखावा क़ाइम था, सर्वसत्तावाद की अशुभ छाया (राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद) ने स्वतन्त्रता को ग्रस लिया; अधिनायकत्व का आकर्षण अधिकाधिक सम्मोहक होता गया। प्रत्येक स्थान पर आर्थिक संकट और गहराता गया; आर्थिक सुरक्षा के लिए उठाये गये क़दम औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र तक में जकड़बन्दी की ओर बढ़ गये; हिंसक क्रान्तियों ने स्वतन्त्रता को नष्ट कर दिया जबकि सामाजिक न्याय और आर्थिक समता का आदर्श-लोक पूर्ववत् दूर बना रहा।

इस क्षोभदायक अनुभव के कारण अधिक मर्मभेदी विश्लेषण की ज़रूरत महसूस हुई और उस का निष्कर्ष था कि आधुनिक दुनिया की सभी बुराइयों की जड़ मनुष्य के अपने में विश्वास के अभाव में खोजी जा सकती है। यदि समय की ज़रूरत बेहतर संस्थाएँ हैं तो भी ऐसा कर पाने का विश्वास रखने वाले मनुष्य चाहिए। ऐसी संस्थाओं के स्थिर होने के लिए उन का निर्माण आधारतल से ही करना होगा। सरकारों, राजनीतिक दलों बल्कि महान् अधिनायकों तक से ऐसा होना सम्भव नहीं है। समाज के घटक स्वतन्त्र व्यक्तियों की विवेकपूर्ण इच्छा से सम्पोषित न होने पर ऊपर से थोपी गयी संस्थाएँ भी भरभरा कर गिर पड़ती हैं। लेकिन आज मनुष्य एक असहायता और विफलता-बोध के वातावरण में जी रहे हैं। इस वातावरण में तो कुछ भी निर्माण नहीं हो सकता। यही कारण है कि आधुनिक सभ्यता का आरोपित ढाँचा ध्वस्त हो रहा है।

यह त्रासदी है; लेकिन एक त्रासदी इस से भी बड़ी है। मनुष्यों ने ईश्वर में आस्था भी गवाँ दी है। आज निराशा के क्षणों में वे सांत्वना के लिए पारम्परिक धर्म के पास नहीं जाते। हमारे समय के आध्यात्मिक संकट ने अपने को एक नये धर्म के उदय में व्यक्त किया है: अशिष्ट और लौकिक धर्म की ईश्वर भीड़ है; राजनीतिक दल नया पौरोहित्य और नेता प्रमुख पुरोहित है। उन का व्यक्तियों में विश्वास नहीं है किन्तु वे मानते हैं कि नेता और दल के अनुकरण में हज़ारोंहज़ार असहाय व्यक्तियों के साथ आ जाने पर अप्रतिरोध्य शक्ति पैदा होती है। यह एक अन्धी आस्था है— इतनी अन्धी कि इस विचित्र गणित को भी नहीं देख पाती : एक शून्य कुछ नहीं है, लेकिन जब लाखों शून्य जोड़े जायेंगे तो कुल योग सर्वशक्तिमान ईश्वर होगा। भीड़, राष्ट्र या वर्ग के रूप में इस ईश्वर की पूजा हो रही है; और सभी महाद्वीप देवता हो गये हैं, उदाहरणार्थ एशिया के पुनरुत्थान का रहस्यवादी पंथ।

रोग के निदान से उपचार भी प्रस्तावित है। हमें बुराई की जड़ पर ही प्रहार करना होगा। नये समाज-दर्शन का आरम्भ मानव-प्रकृति की ऐसी अवधारणा से होगा

जिस से मनुष्य के अपने में विश्वास करने की आशा पुनर्जीवित हो सके। यदि यह सही है कि मनुष्य स्वभावतः अपने से बड़ी किसी अन्य शक्ति में विश्वास रखने वाला है और इसलिए वह अपने आप कुछ करने की नहीं सोच सकता, तो मानवीय स्वतन्त्रता के दुलारे विचार को त्याग देना होगा। धार्मिक व्यक्ति ईश्वर की सृष्टि को सुधारने की बात नहीं सोच सकता। दूसरी ओर, मानव-प्रकृति के स्वार्थी होने की पूर्वमान्यता तर्कानुसार इसी मत की ओर ले जायेगी कि राज्य द्वारा राजनीतिक दमन अथवा धर्म के नैतिक आदेश के बिना समाज कुछ नहीं कर सकता। इस तरह, मानव-प्रकृति की इस वैकल्पिक दृष्टि में भी स्वतन्त्रता की सम्भावना नहीं बचती।

लेकिन सभ्यता का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि मानव-प्रकृति के बारे में ये दोनों ही धारणाएँ निराधार हैं। इतिहास में आद्योपान्त अपधर्मी ही मानव-प्रगति के प्रवर्तक होते आये हैं। धर्म अज्ञान पर आधारित है; यदि वह मानव-प्रकृति का आधार होता तो ज्ञान सम्भव ही नहीं होता और मनुष्य आज तक सुखद अज्ञान में ही रह रहा होता। जहाँ तक दूसरी मान्यता की बात है, यह सही है कि मनुष्य का प्राथमिक सरोकार उस का अपना अस्तित्व है, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि उस की स्वार्थ-वृत्ति अपना ही अतिक्रमण करने के सामर्थ्य को भी उपजाती है। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इस तथ्य की अनदेखी करता है कि सहकार सदैव ही एक दृढ़तर सामाजिक कारक रहा है। अन्यथा, सभ्यता के प्रारम्भ में ही समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता। इसलिए इतिहास इस विचार को प्रामाणिक मानता है कि मानव-प्रकृति न तो सुधारातीत स्वार्थी है और न ही मानवोत्तर में निष्ठा पर आधारित है। इस विचार की परिपुष्टि आधुनिक विज्ञान भी करता है जो हमारे समय के संकट से उबरने का रास्ता बताने में सक्षम समाजदर्शन का प्रेरणा-स्रोत हो सकता है।

अतीत में अपर्याप्त ज्ञान ने मानव-प्रकृति को सदा रहस्यमयता से ढाँपे रखा। आज मनुष्य को अज्ञात कहने का कोई कारण नहीं है; न ही अपने दैवी सत्त्व में श्रद्धास्पद विश्वास का कोई आधार है। जैविक रूप में मनुष्य एक प्राकृतिक सत्ता है। गर्भाधान से लेकर पूर्ण विकसित बच्चे के जन्म तक सारी प्रक्रिया एक प्राकृतिक घटनाक्रम है। पूरी प्रक्रिया में कोई असम्बन्द्ध तत्त्व कहीं प्रवेश नहीं करता। मनुष्य को अन्य निम्न प्राणियों से विशिष्ट करने वाली कथित आत्मा कोई दैविक स्फुलिंग नहीं है। इस प्राकृतिक प्रक्रिया में कहीं किसी दैवी स्फुलिंग का चोरी से प्रवेश सम्भव नहीं है। जिसे आत्मा कहते हैं वह उस जीवन की विविध अभिव्यक्तियों का कुल योग है जो स्वयं में एक भौतिक-रासायनिक घटनाक्रम है। इसलिए हम इस सिद्धान्त को अमान्य करते हैं कि दैवी स्फुलिंग की वजह से मनुष्य के अन्य प्राणियों से अलग होने के कारण अपने मानवत्व के लोकोत्तर स्रोत में विश्वास करना उस की प्रकृति का आधार है। आध्यात्मिक दासता को श्रेष्ठता के प्रतीक की तरह स्वीकार करने को प्रेरित

करने वाले अपनी आध्यात्मिक उत्पत्ति के इस पूज्य पूर्वग्रह से मुक्त होने पर ही मनुष्य स्वयं को एक स्वतन्त्र मनुष्य की तरह अनुभव कर सकता है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता एक स्वतन्त्र समाज बनाने के सामूहिक मानवीय उद्यम में स्वेच्छापूर्वक सहभागी होने की उसकी क्षमता को विश्वास प्रदान करेगी। मानव-प्रकृति के अन्वेषण में नृतत्त्वशास्त्र भी हमारी सहायता करता है। वह सिद्ध करता है कि मानव-समाज की उत्पत्ति किसी तदर्थ नियन्त्रण में नहीं हुई। आदिम मनुष्य को अपने परिवेश के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा। दूसरों के साथ सहयोग से वह यह संघर्ष अधिक सफलतापूर्वक कर सका। आत्मरक्षा की सहज वृत्ति और अस्तित्व के लिए संघर्ष ने सभ्य समाज की नींव रखी। सहज वृत्ति आदिम विवेक है। इसलिए मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। जीव विज्ञान का आधुनिक ज्ञान भी इस निष्कर्ष पर सहमत है। बुद्धि का मूलांग, अनुभव को मिलाने की क्षमता, निम्नतर प्राणियों में भी खोजी जा सकती है। विवेकशीलता या बुद्धि इसीलिए एक जैविक कार्य है जो उच्च स्तर के जैविक रूपों में समान उच्च स्तर की हो सकती है। विवेकशीलता मनुष्य की स्वार्थवृत्ति को प्रबुद्ध स्वहित के अधीन कर सकती है जो एक सामाजिक गुण है।

अब हम उस दूसरे विचार को भी ख़ारिज कर सकते हैं जिस ने आधुनिक सामाजिक चिन्तन को बहुत विकृत किया है—संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता का विचार। कुछ अर्थशास्त्रियों का कथन है कि प्रतिद्वन्द्विता सारी प्रगति की उत्तोलक है; और क्रान्तिकारी भी सामाजिक संघर्ष को यही महत्त्व देते हैं जिसे वे वर्ग-संघर्ष कहते हैं। निस्सन्देह, संघर्ष हुए हैं और आगे भी होंगे। लेकिन इतिहास का पूर्वग्रहमुक्त अध्ययन बताता है कि अपने साथियों की सहायता करने की आकांक्षा प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष की अपेक्षा अधिक बुनियादी मानवीय विशेषता है। लेकिन इस के साथ अन्य ग़लत धारणाओं पर आधारित धर्म एवं समाजदर्शनों ने मनुष्य की अन्तर्निहित विवेकशीलता को भुला दिया। अतीत में धर्म द्वारा की गयी बर्बादी के बाद हमारे समय में दर्शन अबुद्धिवाद के सम्प्रदाय तक जा पहुँचा। साथ ही, संघर्ष के अनुभव ने सहयोग की भावना को निरुत्साहित किया। इस सब का सम्मिलित परिणाम हुआ मनुष्य का अपने में विश्वास खो देना।

मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान हमारे समय के सांस्कृतिक संकट की जड़ बता देता है और इसीलिए इस आधुनिक जीवन की चकरा देने वाली समस्याओं के प्रति एक नयी दृष्टि खोजने में भी हमें सक्षम बनना चाहिए। संकट सामाजिक अस्तित्व के इस या उस पक्ष को ही प्रभावित नहीं करता; वह मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को घेर लेता है। इसलिए इसे आध्यात्मिक संकट कहा जा सकता है—मनुष्य की आत्मा का संकट। मनुष्य भूल चुका है कि वह क्या है। इस बन्द गली से

निकलने का उपाय उसे यह याद करने में सहायता देना है कि वह एक मनुष्य है, न कि किसी दैवी मालिक अथवा लौकिक शक्ति का ग़ुलाम।

इस नये जीवन-दर्शन के बुनियादी सिद्धान्तों की रूपरेखा तीन वर्ष पूर्व प्रस्तुत की गयी थी। हम ने इसे नव या वैज्ञानिक या समग्र मानववाद नाम दिया। इस में बिल्कुल नया कुछ नहीं है। मानववाद इतिहास का समवयसी है। मानववाद की सामान्य विशेषता युगों-युगों से चला आ रहा यह विश्वास है कि कुछ निश्चित मानव-मूल्य अन्य सभी सोच-विचार से ऊपर हैं और जीवन का प्रमुख उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व का विकास है; राजनीतिक व्यवहार और सामाजिक संस्थाएँ, आर्थिक संगठन, शैक्षिक प्रयास आदि सब को जीवन के इस बुनियादी उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायक होना होगा। लेकिन प्राचीन काल में मानव-प्रकृति की ग़लत अवधारणा जीवन के मानववादी दर्शन का खंडन करती रही। इसलिए शास्त्रीय मानववाद उन विरोधी जीवन-दृष्टियों के मुक़ाबले अपने को सम्भाले नहीं रख सका जिन की संगति मानव-प्रकृति की ग़लत अवधारणाओं से थी। लेकिन आज वैज्ञानिक ज्ञान और साथ ही इतिहास के सजग अध्ययन ने मानववाद को मानव-प्रकृति के बारे में ग़लत अवधारणाओं को चुनौती देने और इस प्रकार अपने को सभी अन्तर्विरोधों और भ्रान्तियों से मुक्त होने में समर्थ बना दिया है। इसलिए हम इसे नव मानववाद कहते हैं। इस की नवीनता क्योंकि विज्ञान से मिली है, इसलिए इस का अधिक उपयुक्त नाम वैज्ञानिक मानववाद है। हम मनुष्य की सम्प्रभुता और प्रधानता के सिद्धान्त का पुनर्कथन किसी मतवाद के रूप में नहीं बल्कि वैज्ञानिक ज्ञान के समर्थन से करते हैं।

यह जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति एक नयी दृष्टि का प्रस्थान-बिन्दु है। उदाहरणार्थ, अपने देश की आर्थिक समस्याओं को लें। हर कोई जानता है कि चीज़ें बद से बदतर होती जा रही हैं। सब से आसान बात है इस सब के लिए किसी को दोषी मानना और ज़ाहिर है कि बलि का बकरा सरकार होगी। वर्तमान स्थितियों की सारी शिकायतों का निहितार्थ है सरकार की आलोचना और उस के बाद शिकायतगर के नियन्त्रण में एक वैकल्पिक सरकार की माँग। यह माना जाता है कि सरकार का यह परिवर्तन सभी समस्याएँ हल कर देगा; लेकिन सत्ता के दावेदार यह नहीं बताते कि समाधान कैसे होगा। यदि वे वास्तव में समस्याओं को हल करना जानते हैं, तो वे स्थापित सरकार को अपनी बुद्धिमत्ता का लाभ क्यों नहीं देते? यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि लोक कल्याण से सत्तारूढ़ लोगों का सरोकार सत्ताकांक्षी लोगों की अपेक्षा कम है। सम्भव है सरकारें भ्रमित हों और सही काम न करें। लेकिन अन्ततः वे नैतिक निर्णय लेने में समर्थ मानव-प्राणियों द्वारा गठित होती हैं। इसलिए यदि आप उन की सदाशयता को पुकारें और बार-बार कहें कि वे चीज़ों को बेहतर कर सकते हैं तो शायद वे आप को सुनें। लेकिन यदि आप उन के निष्क्रमण

पर बल दें ताकि आप सत्तारूढ़ हो सकें तो उन की पीठ तन जायेगी, और वे अपनी भ्रान्तिपूर्ण नीति को ही जारी रखने पर अड़ जायेंगे। सत्तारूढ़ मनुष्य सत्तासीन बने रहने की चिन्ता से बाधित होते हैं। उन की इच्छा उन्हें प्रतिस्थापित करना चाहने वालों की इच्छा से अधिक निन्दनीय नहीं है। सम्भावना की दृष्टि से एक मनुष्य उतना ही अच्छा है जितना दूसरा। इसलिए सत्तारूढ़ मनुष्यों की विवेकशीलता और नैतिक बोध को जाग्रत करना राजनीति के शुद्धीकरण का एकमात्र तरीक़ा है। यह कोई अमूर्त नैतिकतावादी प्रवृत्ति नहीं है। यह राजनीतिक व्यवहार की समस्या के प्रति सर्वाधिक व्यावहारिक रास्ता है। सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञों को अगले चुनावों में मत चाहियेंगे। इसलिए वे सार्वजनिक राय को अवश्य सुनेंगे यदि वह उन्हें चकरा देने वाली समस्याओं के प्रति अधिक आश्वस्तिकर तरीक़े की हिमायत करती हो।

दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। एक बुनियादी है। आप ऊपर से सुधारों को थोप कर चीज़ों का उपचार नहीं कर सकते। इसे आधारतल से करना होगा। जब तक लोग अपनी समस्याओं का हल अपने लिए निकलवाना चाहते हैं, तब तक उन्हें आज्ञापालन, अन्धानुकरण और जकड़बन्दी के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। इस के विपरीत, यदि वे स्वतन्त्रता चाहते हैं तो उन्हें अपने को स्वतन्त्र होने के योग्य सिद्ध करना होगा। ऐसा वे इस घोषणा द्वारा कर सकते हैं कि मानव-प्राणियों की हैसियत से वे जैसी दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करते हैं वैसा ही दूसरों के लिए करने को प्रस्तुत हैं। वे सम्पूर्ण भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पुनर्निर्मित करने में सक्षम नहीं भी हो सकते हैं। लेकिन वे रास्ते का संकेत कर सकते हैं। रास्ता है स्थानीय सहकारी संगठनों का नयी अर्थ-व्यवस्था के केन्द्रों के रूप में निर्माण। कोई कारण नहीं कि सरकार लोकप्रिय पहल को प्रोत्साहित न करे। हमारी अपनी पहल पर चीज़ों को करने के साथ हमें सरकार की घोषणाओं और उद्देश्यों पर सन्देह किये बिना उस की सदाशयता को जाग्रत करने में लगे रहना चाहिए।

वे कहते हैं कि भारत की आर्थिक समृद्धि उस की बड़े उद्योग निर्माण करने की क्षमता पर निर्भर करती है। लेकिन उन का यह भी कहना है कि भारत के अपने संसाधनों से यह कर पाना सम्भव नहीं है। उसे विदेशी सहायता की ज़रूरत है। लेकिन डॉलर नहीं आ रहे हैं। तो हम क्या करें? क्या हम उन के बिना काम चला सकते हैं? हम चला सकते हैं। इस का तरीक़ा बताना ही आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्याओं के प्रति एक नयी दृष्टि पर हमारे वक्तव्य का प्रयोजन है।

मनुष्य के सारतः विवेकशील होने के प्रति हमारे विश्वास और ज्ञान से उस की परिपुष्टि के अनुरूप हम सरकार से इस आशा के साथ निवेदन कर रहे हैं कि वह अपनी नीति बदलेगी। साथ ही, हम यह भी कहना चाहते हैं सरकार चाहे जो करे उस से जनता की अपनी पहल को प्रतिबाधित नहीं होना है।

भारत में लोकतन्त्र की समस्या के प्रति मानववादी दृष्टि भी इसी तरह विवेकशील और यथार्थपरक है। यह नीचे से पहल की हिमायत करती है। औपचारिक लोकतन्त्र सौभाग्य सिद्ध नहीं हुआ है। भारत की तरह जहाँ चुनावकर्ता राजनीतिक निरक्षर हैं, वहाँ ऐसा हो भी नहीं सकता। दलीय राजनीति राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्थापित नहीं करेगी। वह लोकतन्त्र को भीड़तन्त्र से मिला देती है। वर्तमान सरकार से असन्तुष्ट लोग सत्ता हथियाने के लिए एक विरोधी दल का गठन कर लेते हैं। संसदीय लोकतन्त्र में मतपेटी के माध्यम से सत्ता हथियायी जाती है। चुनाव जीतने के लिए विरोधी दल को वह सब कुछ कर देने का वादा करना पड़ता है जिस में वर्तमान सरकार असफल रही है। वह यह स्पष्ट नहीं करता कि यह चमत्कार कैसे सम्भव होगा। वर्तमान सरकार फ़रिश्तों या अतिमानवों से नहीं बनी है, न वैकल्पिक सरकार ही वैसी होगी। कुछ वस्तुगत कठिनाइयाँ हैं जो दूसरे को उसी तरह चक्कर में डालेंगी जैसे उन्होंने एक को डाला है। लेकिन दलीय राजनीति में इन ईमानदार स्वीकारोक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसे चमत्कारों का वादा करना ही होगा जिस में विश्वास करना निर्वाचकों की अविवेकशीलता को पूर्वमान्यता देना है। चुनाव-प्रचार इसीलिए भावना और अन्धी आस्था को जगाता है। केवल पक्के जनोन्मादक राजनीतिज्ञ ही इस में सफल हो पाते हैं। औपचारिक लोकतन्त्र के मानदंड—मस्तकों की गिनती—की पद्धति से मापने पर स्वीकृत अधिनायक हिटलर हमारे समय का सर्वाधिक सफल लोकतन्त्रवादी था। जनता में सामूहिक उन्माद जगा कर उस ने कई बार उसका लगभग सर्वसम्मत समर्थन हासिल किया। यदि जनता नैतिक और विवेकशील निर्णय में समर्थ मनुष्यों का समूह नहीं रहती तो जनता की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ नहीं रह पाती। औपचारिक लोकतन्त्र का भीड़तन्त्रीय व्यवहार सम्प्रभु जनता को मतदाता यन्त्रमानवों के एक ढेर की हैसियत में ला देता है। भारत में औपचारिक जनतन्त्र का यह अवमूल्यन व्यावहारिक रूप से जनता द्वारा अपरीक्षित भरोसा करने तथा चमत्कारों में विश्वास करने की सांस्कृतिक पूर्वानुकूलता द्वारा पूर्वनिर्धारित है।

बुद्धिमान लोग इस ख़तरनाक मार्ग पर इसीलिए खुली आँखों चलना चाहेंगे क्योंकि इस का एकमात्र विकल्प साम्यवाद है। दूसरी ओर, अन्य देशों में संसदीय लोकतन्त्र का अनुभव उलझे हुए आदर्शवादियों को साम्यवाद के साथ इश्कबाज़ी करने के लिए प्रवृत्त करता है। तर्क दिया जाता है कि रूसी साम्यवाद ठीक नहीं है, लेकिन चीनी साम्यवाद ने लोकतान्त्रिक मार्ग चुना है। वहाँ साम्यवाद की सफलता का कारण जनता के समर्थन को माना जाता है। राष्ट्रवाद से शुद्धीकृत साम्यवाद का यह विचार सच नहीं है। चीन में भी इस का अर्थ हिंसा, सारी स्वतन्त्रता का दमन और वही ख़ानदानी कहानी है। चाहे चीनी प्रकार हो या रूसी प्रकार, साम्यवाद अपने साथ आतंक का लम्बा शासन, जकड़बन्दी, स्वतन्त्रता का दमन, सम्भवतः गृहयुद्ध और अव्यवस्था लाता है। ऐसी महाविपत्ति का इस आशा के साथ स्वागत करना

शुद्ध पागलपन है कि रक्त और आँसुओं के अज्ञात समुद्र के दूसरी ओर एक स्वर्णिम आदर्श-लोक शायद प्रतीक्षा कर रहा हो।

क्या कोई तीसरा विकल्प नहीं है? क्या हमें कम बुराई को चुनने की बौद्धिक अकर्मण्यता पर ही निर्भर करना होगा? और वह निर्णय भी अनन्त सम्भ्रम पैदा करेगा क्यों कि कोई भी निर्णय अन्ततः राय और प्रवृत्ति का मामला होगा। साम्यवाद को ख़ारिज करते हुए भी हम औपचारिक लोकतन्त्र के दोषों की अनदेखी नहीं कर सकते। वह इस देश में राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्थापित नहीं कर सकता जहाँ लोकतान्त्रिक व्यवहार के लिए आवश्यक सांस्कृतिक पूर्वस्थिति अनुपस्थित है। इस वातावरण में, औपचारिक लोकतन्त्र न केवल आसानी से भद्दे भीड़तन्त्र और छलावे में पतित हो जायेगा, बल्कि वह जन-समर्थन के साथ अधिनायकत्व का मार्ग भी प्रशस्त कर सकता है। दूसरी ओर, एकदम नयी शुरूआत के कारण भारत में हमें औपचारिक लोकतन्त्र से बाधित होने की ज़रूरत नहीं है। हम लोकतन्त्र को मानववादी नींव पर खड़ा कर के उसे एक अवसर दे सकते हैं। आगामी चुनाव हमारे लिए एक अवसर है। हमें जनता को किसी भी दल को उस के शब्दों के आधार पर नहीं समझने की सलाह देनी चाहिए और चुनाव-प्रचार में किये गये वादों के आलोचनात्मक परीक्षण में उसकी सहायता करनी चाहिए। सभी वादे ईमानदारी से किये जा सकते हैं; लेकिन वे यथार्थपरक नहीं होने के कारण जनता को धोखा हो सकते हैं। लोकतन्त्र के भीड़तन्त्र में अवमूल्यन के ख़तरे को जनता में निर्णय की क्षमता के विकास में सहायता दे कर ही टाला जा सकता है। मनुष्य की अन्तर्निहित विवेकशीलता पर विश्वास करने वाला समाजदर्शन ही हमें भावनाओं के ज्वार में न बहने वाले बुद्धिमान निर्वाचकों के सुदृढ़ आधार पर टिके लोकतन्त्र का निर्माण करने के लिए प्रेरित कर सकता है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था की मानववादी नींव डालने के इस प्रयास को आर्थिक जीवन के सहकारी पुनर्निर्माण से समन्वित किया जाना चाहिए। इस का परिणाम होगा स्थानीय गणतन्त्रों की एक शृंखला की रचना जिस में प्रत्यक्ष होने के कारण लोकतन्त्र वास्तविक होगा तथा स्थानीय संसाधनों के आधार पर नागरिकों की बुद्धिमत्तापूर्ण पहल और सहकारी प्रयासों से आर्थिक समस्याएँ भी सुलझायी जा सकेंगी। जनता के नाम पर सत्ता में आने की आकांक्षा रखने के बजाय स्वतन्त्रता और कल्याण का सरोकार रखने वाले स्थापित सरकार के रुख की चिन्ता न करते हुए स्वयं कार्य आरम्भ कर सकते हैं। लेकिन उन का अपने में विश्वास होना चाहिए और यह विश्वास मानववादी जीवनदर्शन से मिलता है।

क्या और कैसे करणीय है, इस की व्यावहारिक रूपरेखा सार्वजनिक विचार के लिए प्रस्तुत वक्तव्यों में दी गयी है। वे अन्तिम नहीं हैं। वे भविष्य का कोई नीला नक्शा

नहीं हैं। वे राजनीतिज्ञों को चकरा देने वाली समस्याओं के प्रति एक नयी दृष्टि का संकेत हैं। इन के साथ सहमत होने का तात्पर्य कोई सांगठनिक प्रतिबद्धता नहीं है और न इस में दलीय अनुशासन की कोई बात है। हमारा अनुरोध विवेक और नैतिक उत्तरदायित्व से है। इस पूर्णतया अनासक्त अनुरोध का प्रत्युत्तर न केवल इस देश बल्कि आधुनिक सभ्यता के भविष्य के लिए आशा का पैमाना होगा।

(कलकत्ता में 4 फरवरी, 1951 को आयोजित मौलिक मानववादियों के प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन के खुले सत्र में राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर वक्तव्यों को प्रस्तुत करते समय दिया गया व्याख्यान।)